

शाङ्कर सिद्धान्त पर किये गये आक्षेपों

का

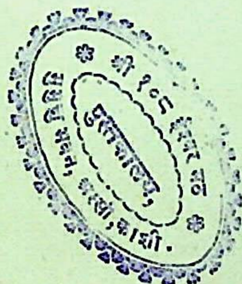
समाधान

❀ श्रीः ❀

शाङ्कर सिद्धान्त पर किये गये आक्षेपों

का

समाधान ।





श्री संवत् १९९४ वि०

मूल्य ॥)

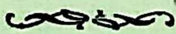
प्रकाशक :—
दुर्गादत्त त्रिपाठी (सामवेदी)
रामघाट, काशी ।



मुद्रकः—
वी० के० शास्त्री,
ज्योतिष प्रकाश प्रेस विश्वेश्वरगञ्ज, काशी ।

विषयानुक्रमणिका ।





श्रीहरिः शरणम् ।

प्रकाशकीयम्

वर्तमान युग स्वातन्त्र्य का हो रहा है। संसार में जहां देखें वहां इस समय विचार-स्वातंत्र्य, लेखन-स्वातंत्र्य, भाषण-स्वातंत्र्य, आचार स्वातंत्र्य, यहां तक कि वेद-शास्त्र तथा महान् आचार्यों की उक्तियों के गम्भीर अभिप्रायों को न समझ कर मनमाने अर्थोंकी कल्पना कर लेने में, अथवा उन उक्तियों को क्षेपक तक कह देने में भी वही स्वातन्त्र्य-लीला दृष्टिगोचर हो रही है।

थोड़ा समय हुआ कुछ लब्ध-प्रतिष्ठ पत्र-पत्रिकाओं में कतिपय लेख ऐसे देखने में आये, जिन्हें पढ़कर उद्वेग हुआ, और चित्त में सन्देह भी उठे पर उनका समाधान कैसे हो, और कौन करे? चित्त इसी उधेड़बुन में था कि इसी अवसर में श्रीमत् परमपूज्य वीतराग श्री स्वामी करपात्री जी महाराज के चरणों के दर्शन का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उनसे जिज्ञासा प्रकट की, साथ ही कुछ लोगों ने उनके समक्ष अपनी कुछ अन्य शङ्काएं भी उपस्थित की। उन्होंने कृपाकर उन सबका युक्ति पूर्ण-शास्त्रीय-पद्धति से जो समाधान समय २ पर किया, उसे अत्यन्त लोकोपयोगी समझ कर प्रकाशित करने का यह प्रयत्न किया गया है! वह पाठकों के सामने है। सूर्य को दीपक दिखाना वृथा है। पाठक इसे देखें—पढ़ें सोचें—समझें— और विचार करें। आशा है कि यदि उनके हृदयों में भी उक्त विषयों

में शङ्काएँ होंगी तो वे अवश्य दूर हो जायगीं। अतः उससे उनका और जगत् का बहुत कुछ उपकार ही होगा।

यदि इस पुस्तक का परिशीलन करने पर भी किसी महानुभाव को कुछ संदेह हो तो निःसंकोच भाव से उसे सुस्पष्ट रीति से लिख कर व्यक्त करें, यथा सम्भव उन्हें दूर करने का पूर्ण प्रयत्न किया जायगा।

यद्यपि प्रस्तुत लेख के कुछ अंश पहले अन्यान्य पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं, तथापि उपयोगी समझ कर यहां उनका भी संकलन किया गया है।

अन्त में केवल यही कहना है कि—

"तेजस्वि नावधीतमस्तु" "माविद्विषा वहै"।





आज कल सर्व साधारण में हिन्दी के प्रचार से शास्त्रीय सिद्धान्तों पर आचार्य्यों के ग्रन्थ तथा उनके ऊपर बड़े बड़े विद्वानों की सूक्ष्मबुद्धि-वेद्य व्याख्याओं को गुरुपरम्परा से न जानने वाले लोग भी तत्त्वातत्त्व का विचार करने लग गये हैं। ऐसी स्थिति में शास्त्रव्यवसायी विद्वानों का कर्त्तव्य है कि यदि कोई अपने बुद्धिदोष या प्रसिद्धि के महत्त्ववश शास्त्रीयसिद्धान्तों को न समझ कर सत् सिद्धान्तों को असत् समझाने का यत्न करे तो जनता को उससे बचाने तथा ऐसे लेखकों को भी सच्चे मार्ग का प्रदर्शन कराने के लिये शास्त्र निष्णात आचार्यों के सिद्धान्तों का वास्तविक स्वरूप प्रदर्शित करें।

इस समय जितनी पत्र पत्रिकायें चल रही हैं उनमें अधिक प्रचार प्रायः कल्याण का है। जब कई बार उसमें शास्त्र विरुद्ध लेख देखने में आये तो कुछ लोगोंने सर्वशास्त्रपारावारीण विद्वन्मान्य श्रीहरिहरानन्द सरस्वती श्रीकरपात्री जी से इस विषय में पूछा। उन्होंने इस विषय को अत्यन्त निर्मल कर दिया। और प्रसङ्गवश ऐसी ऐसी शङ्काओं का समाधान किया जो बहुत दिनों से असमाधेय दशाही में पड़ी हुई थीं। ऐसी अवस्था में विचार किया गया कि निबन्धरूप में यदि इन विषयों पर कुछ लिख कर प्रकाशित कर दिया जाय तो शास्त्रश्रद्धालु जनता का बड़ा उपकार हो।

इसी भाव को लेकर "शाङ्करसिद्धान्त पर किये गये आक्षेपों का समाधान" नामक यह निबन्ध प्रकाशित कर देना उचित समझा गया।

इस निबन्ध में—

१–दैव–पुरुषकार मीमांसा।

२–विद्याविद्यादितत्त्वमीमांसा।

३–सांख्य–योग–मीमांसा।

४–गीता के उपसंहारात्मक श्लोक का विवेचन।

५–इतिहास पुराणाद्यध्यनाधिकार विचार।

ये पाँच प्रकरण हैं। प्रथम प्रकरण में जयदयालजी गोयनका तथा कल्याण के सम्पादक द्वारा पञ्चदशी में किये हुए विचारों पर जो आक्षेप किये गये हैं उनके समाधान पूर्वक दैव–पुरुषकार का विचार किया गया है।

भूमिका में भी प्रसङ्गानुसार इस पर कुछ विचार किया जाता है पञ्चदशी के प्रारब्धवाद पर आक्षेप करने वाले महानुभावों ने शास्त्रों पर ध्यान नहीं दिया इसी लिए प्राक्तन शुभाशुभकर्मों के अधीन शुभाशुभ कर्मों में प्राणिप्रवृत्ति पर अनेक प्रकार की मोटी मोटी शङ्कायें की हैं।

वस्तुतः समस्त शास्त्रकारों की यही सम्मति है कि प्राणि–बुद्धि तथा प्रवृत्ति के मूल प्राक्तन कर्म ही हैं। पुरुषकार का भी साफल्य दैव के अनुकूल होने पर ही होता है। दैवतन्त्र कार्यों में भी पुरुषार्थ की आवश्यकता होती है। दोनों के योग से ही कार्य सिद्ध होता है। इस विषय में ज्योतिष शास्त्रकारों ने भी विचार किया है। संदेह होता है कि–

येन तु यत्प्राप्तव्यं तस्य विपाकं सुरेशसचिवोऽपि।
यः साक्षान्नियतिज्ञः सोऽपि न शक्तोऽन्यथा कर्त्तुम्॥

अर्थात् जिसे प्राक्तन कर्मरूप दैव के बल से जो सुख या दुःख प्राप्त करना है उसे परमदैवज्ञ साक्षात् बृहस्पति भी अन्यथा नहीं कर सकते। इसका उत्तर यही है कि पुरुषकार और दैव दोनों ही के योग से कार्यसिद्धि होती है, अतएव विवाहादि के लिये प्रयत्न–साध्य कालविशेष आदि का

विधान है। यदि पुरुषकार निरक्षेप ही दैव फल देवे तब तो कृषि वाणिज्य आदि में प्राणियों की प्रवृति न होनी चाहिये, तथा श्रुति स्मृतियाँ व्यर्थ हो जायगीं। केशवार्कि ने कहा है:-

फलेद्यदि प्राक्तनमेव तत्किं कृप्याद्युपायेषु परः प्रयत्नः।
श्रुतिः स्मृतिश्चापि नृणां निषेधविध्यात्मके कर्मणि किं निषण्णा॥

"न वृक्षमारोहेत न कूपमवरोहेन्न बाहुभ्यां नदीं तरेन्न प्राण-संशयमभ्यापद्येत।

"वृक्ष पर न चढें, कूप में न प्रविष्ट हो" इत्यादि नीत्युपदेश तथा चिकित्सा-शास्त्र व्यर्थ हो जायँगें। अतएव याज्ञवल्क्य ने भी कहा है:-

दैवे पुरुषकारेऽपि कर्मसिद्धिर्व्यवस्थिता।
तत्र दैवमभिव्यक्तं पौरुषं पौर्वदैहिकम्॥

दैव और पुरुषकार उभयाश्रयण से ही कार्य सिद्धि होती है। पूर्वदेह कृत कर्म ही फलोन्मुख होकर दैवपदवाच्य होता है। उसे भी स्वसिद्धि के लिये पुरुषकार (वर्तमानप्रयत्न) की अपेक्षा होती है। इसके सिवा पूर्व-देहोपार्जित पौरुष ही तो वर्तमान जन्म में दैव कहा जाता है। दैवानुकूल्य होने पर थोड़े ही प्रयत्न से महान् कार्य की सिद्धि होती है। दैवानुकूल्य न होने पर महान् प्रयत्न से भी कार्य सिद्धि नहीं होती। इसीलिए याज्ञ-वल्क्य ने कहा है:—

यथाह्येकेन चक्रेण रथस्य न गति र्भवेत्।
तद्वत् पुरुषकारेण विना दैवं न सिद्ध्यति॥

जैसे एक चक्र से रथ की गति असम्भव है वैसे ही पुरुषकार के विना दैव सिद्ध नहीं होता।

केशवार्कि ने कहा है:-

प्राक्कर्मबीजं सलिलानलोर्वीसंस्कारवत्कर्मविधीयमानम् ।
शोषाय पोषाय च यस्य तस्य तस्मात्सदाचारवतां न हानिः ॥

कैसा सुन्दर समन्वय किया है, जैसे बीज सुन्दर धरणी, अनिल, जल आदि के संस्कारों से संस्कृत होकर अङ्कुरित, फलित, प्रफुल्लित होता है अन्यथा नष्ट हो जाता है। वैसे ही प्राक्तन कर्म रूप दैव ऐहिक सत्प्रयत्न से फलित होता है अन्यथा नष्ट भी हो जाता है। इसी लिये पुरुषार्थ का भी साफल्य है। जैसे दुष्टपुरुष रन्ध्रान्वेषण या दुष्ट की सहायता से ही प्रहार करता है वैसेही दैव भी देश काल के परतन्त्र ही फल देता है। इसी-लिये शकुन आदि से अशुभदैव फलको जानकर शुभ प्रयत्न द्वारा दैव की वञ्चना की जा सकती है।

इस विषय में वसन्तराज ने कहा है:-

तन्निरूप्य शकुनेन दुःखदं वञ्चयन्ति नियतं समुद्यतम् ।
पौरुषेण पुरुषाः सुमेधसः संश्रयन्ति पुनरात्मनो हितम् ॥

कुछ लोगः-

तथा परमुपेक्ष्यैव दैवं धैर्यावलम्बिनः ।
प्रत्यक्षतः क्रियासिद्धौ केवलं जगुरुद्यमम् ॥ १ ॥
उत्थानहीनो राजा हि बुद्धिमानपि सर्वदा ।
प्रधर्षणीयः शत्रूणां भुजङ्ग इव निर्विषः ॥ २ ॥
विधानगणनाजडः पुरुषकारमुक्तादरो ।
मनोरथपरिश्रमैर्न परिचुम्बति श्रीमुखम् ॥
पराक्रमविनिश्रितैकसुनयो हि सद्यः कृतं ।
हरिर्मदसुवासितं पिबति कुञ्जरासृङ्मधु ॥ ३ ॥

इत्यादि वचनों के आधार पर कहते हैं कि धैर्यावलम्बी महापुरुष दैव निरपेक्ष ही प्रयत्न से क्रिया सिद्ध करते हैं। जो पुरुष दैव की ही चिन्ता में व्याकुल होकर पुरुषकार के प्रति निरादर करते हैं वे कभी भी सम्पत्तियोग नहीं प्राप्त कर सकते अतः पुरुषकार ही सब कुछ है। परन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं है। समानभूमि में समान बीज तथा समान प्रयत्न होने पर भी फल में विचित्रता देखकर कुछ अदृष्ट विशेष की कल्पना अवश्य ही अपेक्षित होती है।

जैसे कृषि वृष्टि के योग से फलसिद्धि होती है। कृषि-स्थानीय पौरुष है। वृष्टि स्थानीय दैव है। कर्षक पौरुष से कृषि करता है। दैव वृष्टि से उसे सिद्ध करता है। वृष्टि न हो तब कृषि व्यर्थ ही हो, एवं यदि बीज निर्वाप न हो तो वृष्टि भी व्यर्थ ही हो सकती है।

न विना मानुषं दैवाद्दैवं वा मानुषाद्विना।
नैको निर्वर्तयत्यर्थमेकारणिरिवानलम् ॥

यद्यपि प्रयत्नानुकूल बुद्धि और सावधानी भी "बुद्धिः कर्मानुसारिणी" के अनुसार प्राक्तन कर्मों की अपेक्षा रखती ही है, अन्यथा समान विपत्ति सम्पत्ति में भी समान अवस्था में भी किसी में ही क्यों सावधानी एवं प्रयत्नानुकूल बुद्धि होती है और कहीं प्रमाद एवं प्रयत्न विपरीत बुद्धि होती है। तथापि सावधानी और प्रयत्नानुकूल बुद्धि एवं अन्यान्य योग्यता प्राप्ति के अनन्तर फिर प्रयत्न करने में पुरुषकार का स्वातन्त्र्य ही है। हाँ जो अत्यन्त प्रबल दैव है उसका लंघन सहस्रों प्रयत्नों से भी नहीं होता। इसी लिये

येन तु यत्प्राप्तव्यं तस्य विपाकं सुरेशसचिवोऽपि।
यः साक्षान्नियतिज्ञः सोऽपि न शक्तोऽन्यथा कर्तुम् ॥

इत्यादि उक्तियाँ हैं।

दृढ़ कर्मज दैव की निवृत्ति नहीं होती। जैसे दृढ़मूल वृक्ष प्रबल वायु आघात से भी नहीं गिरता। और अदृढ़ कर्मज दैव प्रबल प्रयत्न से शिथिल होता है, जैसे अदृढ़मूल वृक्ष। इसीलिये–

ये धर्मकर्मनिरता विजितेन्द्रियाश्च
ये पथ्यभोजनजुषो द्विजदेवभक्ताः।
लोके नरा दधति ये कुलशीललीलाम्
तेषामिदं कथितमायुरुदारधीभिः॥

सद्धर्मादि परिनिष्ठितों की ही नियत आयु आदि की स्थिति कही गई है।

पापिष्ठा ये दुराचारा देवब्राह्मणनिन्दकाः।
अपथ्यभोजिनस्तेषामकाले मरणं ध्रुवम्॥

अनाचारियों के पूर्व कर्मारब्ध आयु का भी क्षय हो जाता है। यही स्थिति चिकित्सा की भी है।

पूर्वजन्मकृतं पापं व्याधिरूपेण बाधते।

इसके अनुसार यद्यपि सभी व्याधियाँ पाप के ही परिणाम हैं तथापि अदृढ़कर्मज व्याधियाँ प्रतीकार्य हैं; दृढ़कर्मज व्याधियाँ अनिवार्य हैं।

ठीक ऐसे ही अदृढ़कर्मज बुद्धि तथा प्रवृत्ति भी दृढ़ नवीन प्रयत्न से बाधित हो सकती है। दृढ़ कर्मज बुद्धि तथा प्रवृत्तियाँ भी दुर्निवार्य होती हैं। परन्तु पूर्णातिपूर्ण प्रयत्न के पुनः २ वैफल्य होने से ही इनका ज्ञान होता है।

नीतिशास्त्रानुसारी भी दैव वाद का आदर करते हैं। पुण्य पाप में भी दैव को मूल बतलाते हैं। इतने पर भी पुरुषकार का पूर्ण स्थान रहता है अतः उपायोपदेश का वैयर्थ्य नहीं होता। यहाँ केवल थोड़ा शुक्रनीति के आधार पर भी उक्त विषय का प्रदर्शन किया जाता है।

प्राक्कर्मफलभोगार्हा बुद्धिः सञ्जायते नृणाम् ।
पाप-कर्मणि पुण्ये वा कर्त्तुं शक्तो न चान्यथा ॥

जैसी बुद्धि के बिना प्राक्तन कर्मों का भोग सम्पन्न नहीं हो सकता वैसी बुद्धि भी प्राक्तनकर्म के ही बल से उत्पन्न होती है। प्राक्तन कर्मों के ही आधीन किसी प्राणी की पुण्य कर्म में प्रवृत्ति होती है किसी की पाप कर्म में अन्यथा क्यों किसी की सद्बुद्धि द्वारा पुण्यकर्म में प्रवृत्ति और क्यों किसी की दुर्बुद्धि द्वारा असत् कर्म में ?

बुद्धिरुत्पद्यते तादृग् यादृक् कर्मफलोदयः ।
सहायास्तादृशा एव यादृशी भवितव्यता ॥

जैसे कर्मफलों का उदय होता है वैसी ही बुद्धि उत्पन्न होती है। जैसी भवितव्यता (नियति) रहती है वैसे ही सहायक प्राप्त होते हैं। परन्तु यदि सभी दैव परतन्त्र ही शुभाशुभ चेष्टायें होती हैं तब तो कार्याकार्य प्रबोधक विधिनिषेधात्मक शास्त्र व्यर्थ हो जायगें। बुद्धिमानों का यह कथन भी कि 'पौरुष ही सब कुछ है आलसी लोग दैव दैव पुकारते हैं'– व्यर्थ हो जायगा इसीलिये आगे कहा है–

दैवे पुरुषकारे च खलु सर्वं प्रतिष्ठितम् ।

अर्थात् दैव और पुरुषकार दोनों के ही आधार पर कार्यसिद्धि होती है। कहा है:—

पूर्वजन्मकृतं कर्मेहार्जितं तद् द्विधाकृतम् ॥
बलवान् प्रतिकारी स्यात् दुर्बलस्य सदैव हि ।
सबलाबलयोर्ज्ञानं फलप्राप्त्यान्यथा नहि ॥

पूर्वजन्मकृत कर्म एवं इहजन्मकृत कर्म दो प्रकार के कर्म होते हैं, उनमें बलवान् दुर्बल का प्रतिकार करनेवाला होता है।

परन्तु सबल अबल का ज्ञान फल प्राप्ति से ही होता है। प्रत्यक्षकार
से ही फलोपलब्धि का समर्थन असम्भव है अतः प्राक्तनकर्मों को फलसिद्धि
का कारण मानना चाहिये।

फलोपलब्धिः प्रत्यक्षहेतुना नैव दृश्यते।
प्राक्कर्महेतुकी सा तु नान्यथैवेति निश्चयः ॥

जहाँ अल्पप्रयास से महान् कार्यों की सिद्धि होती है वहाँ प्राक्कर्म को
ही हेतु मानना चाहिये। कोई कहते हैं कि प्राक्तन और ऐहिक दोनों ही
कर्मों के बल पर कार्यों की सिद्धि होती है। प्राक्तन कर्मों से कार्यसिद्धि
होती है। वर्तमान प्रयत्न से उसकी रक्षा होती है। जैसे स्नेह-वर्त्ति सहित
दीप की वात से रक्षा की जाती है वैसे फलोन्मुख प्राक्तन कर्मों का
सुरक्षण ही वर्तमान प्रयत्न का कार्य है।

अवश्यंभाविभावानां प्रतीकारो न चेद्यदि।
दुष्टानां क्षपणं श्रेयो यावद् बुद्धिबलोदयम् ॥

अवश्य होने वाले भावों का यदि प्रतिकार न भी हो तो भी यावद्बल
दुष्ट रोगादि के प्रतिकारानुकूल प्रयत्न शुभावह ही है।

रावण और भीष्मादि का एकमात्र वानर, नर से वनभङ्ग, गोग्रह में दैव
प्रातिकूल्य का प्राधान्य है। रघुनाथ और अर्जुन का दैवानुकूल्य स्पष्ट
ही था। दैव के अनुकूल होने पर अल्प क्रिया भी अति सुन्दर फलवाली
होती है। और दैव के प्रतिकूल होने पर महती सत् क्रिया भी अनिष्टका-
रिणी होती है। इसी वास्ते सत् क्रिया से भी बलि का बन्धन हुआ। कहा है

महती सत्क्रियानिष्टफला स्यात् प्रतिकूलके।
बलिर्दानेन सम्बद्धो हरिश्चन्द्रस्तथैव च ॥

तथापि सत्क्रिया से इष्टप्राप्ति असत्क्रिया से अनिष्टप्राप्ति होती

है। यही समझकर असत्क्रिया का वर्जन तथा सत्क्रिया का अनुष्ठान करना चाहिये। इस तरह जब दैव प्रधान अर्थ, काम में भी पुरुषकार की सार्थकता है तब पुरुषकारप्रधान धर्म, मोक्ष में तो पुरुषकार का अत्यन्त आदर युक्त ही है। सावधानी और प्रयत्नानुकूल बुद्धि भी यद्यपि कर्मानुसारिणी है तथापि पुरुषकार उपदेश भी तो पुरुषार्थानुष्ठान योग्यता सम्पन्न को ही होता है। अन्यथा अयोग्य असमर्थ पुरुषार्थानभीप्सु के लिये तो शास्त्र ही नहीं है। पशु किंवा अन्ध बधिर या विक्षिप्त के लिये या जो सावधानी से सच्छास्त्र तथा सत्पुरुषों की बात तक सुनने के लिये तैयार नहीं होता प्रत्युत उनका विरोध ही करता है उसके लिये शास्त्र या सत्पुरुष क्या कर सकते हैं। अस्तु इस विषय का सविस्तार विवेचन पुस्तक में ही है।

(२) द्वितीय प्रकरण में विद्या, अविद्या, सम्भूति, असम्भूति के विषय में शङ्कराचार्य जी के सिद्धान्तों को खण्डन करने का जयदयाल जी गोयनकाने जो दुःसाहस किया है उसका निराकरण तथा आचार्य के सिद्धान्तों का समर्थन पूर्णरूप से विशद वर्णित है।

(३) तृतीय प्रकरण सांख्ययोग मीमांसा है।

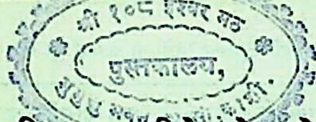
कुछ शास्त्रतत्वानभिज्ञों ने "सांख्य योगौ पृथग् बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः" इसका अर्थ अत्यन्त विरुद्ध करके अपना पाण्डित्याभास दिखलाया है, इसी पर इस प्रकरण में शास्त्र सम्मत विवेचन किया गया है।

इसी विचार के अनुसार पं० दुर्गादत्तजी सामवेदी ने जगत्पूज्य विद्वन्मूर्धन्य श्री करपात्रीजी की सम्मति से अनेक विषयों पर शास्त्रीयसिद्धान्तों का वास्तविक स्वरूप प्रदर्शन के लिये श्रुतिस्मृति पुराणों तथा युक्तियों द्वारा इस निबन्ध को प्रकाशित करने का सत्प्रयास किया है।

आशा है कि इस निबन्ध से धार्मिक जनता अधर्म पंक में न फँसेगी तथा आक्षेप करने वालों का सकल अज्ञान भी दूर हो जायगा।

सभापति शर्मोपाध्याय,
प्रिंसिपल बिरला संस्कृत कॉलेज, बनारस।





शाङ्करसिद्धान्तपर किये गये आक्षेपों का समाधान

दैवपुरुषकारमीमांसा ।

वेदान्ताचार्य श्रीमद्विद्यारण्य मुनीन्द्र निर्मित वेदान्तका अप्रतिम ग्रन्थ पञ्चदशी संसारमें अपरिगणित मनुष्योंको निःश्रेयसरूप-परमपुरुषार्थ प्राप्त करानेसे इष्टदेवके समान परम प्रिय है, यह बात प्रायः बहुत कम पुरुषोंसे तिरोहित होगी। उसी पंचदशीकी-सर्वप्रियता एवं सर्वाविरोधिताका अभिमान करनेवाले 'कल्याण' पत्र एवं उसके संचालक श्री जयदयाल प्रभृतिने-अनुचित रूपसे खण्डनकर वेदान्तसिद्धान्तपर हस्तक्षेप किया है। यदि वे आचार्यपरम्परासे एक बार उसका अध्ययन करके समालोचना करने बैठते तो ऐसा अवसर ही न आता। आजकल ग्रन्थचुम्बकों की रागादिदूषित बुद्धिमें जो मनमानी बात आ जाय वही शास्त्रका तात्पर्य हो जाता है।

पाठक वृन्द ! यदि किसी के परमेष्टके विरुद्ध एक साधारण व्यक्ति बिना सोचे-समझे उन्मत्तके समान यत्किञ्चित प्रलाप करे, तो उसको दुःख होता ही है।

'कल्याण' के वेदान्तांकमें 'पाप आसक्ति से होते हैं, प्रारब्ध से नहीं' 'गीतोक्त स्थितप्रज्ञादि के लक्षण तथा आचरण' इन शीर्षकों के दो लेख प्रकाशित हुए हैं। जिनमें द्वितीय के लेखक श्री जयदयाल वैश्य हैं। प्रथम लेखक का नाम नहीं दिया गया, जिससे सादि न होता है कि 'कल्याण' के प्रधान सम्पादक आदि का होगा। इन दोनों ही लेखों में यद्यपि सदाचार-पालन-दुराचार-निवृत्ति तथा सद्गुण-विस्तार के लिए भी प्रयत्न किया गया है, परन्तु पाठकों को पढ़ने से विदित होगा कि यह केवल आक्षेप की भूमिका है जो कि आजकल के छद्मय व्यवहार का सर्वस्व है।

प्रथम तो लेखमें यह दिखाया गया है कि—

"अपथ्यसेविनश्चौरा राजदाररता अपि ।
जानन्त एव स्वानर्थमिच्छन्त्यारब्धदोषतः ॥"

इत्यादि श्लोकों से जो प्रारब्धाधीन पुण्य या पाप सिद्ध किया गया है, इससे जनता में दुराचार का प्रचार हुआ है। इसके उदाहरण में ऋषीकेश की किसी माई तथा साधु का वृत्तान्त कहा गया है। दोनों के दुराचारभावनाके पोषक उक्त श्लोक बताये गये हैं। जिनका अभिप्राय यह कहा गया है कि इच्छा अनिच्छा, परेच्छा प्रारब्धवश प्राणियों की प्रवृत्ति शुभाशुभ कर्मों में होती है और वह अनिवार्य है, उसे ईश्वर भी नहीं रोक सकता है, कारण कि ईश्वरही 'सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि' इत्यादि श्लोकोंसे प्राणियोंकी प्रवृत्तिको प्राक्तन संस्कारोंके अधीन कहते हैं, इत्यादि। यद्यपि ऐसे दुराचारके उदाहरण अन्य समुदाय में भी बहुत विद्यमान थे, तथापि साधुओंपरही कृपा

करनी उचित थी, कारण कि इससे उनका कल्याण ही होगा। द्वितीय लेखके भी अन्तमें यही अभिप्राय सूचित किया गया है।

लेखक का कहना है कि (१) यदि पापमें प्रवृत्ति प्रारब्धाधीन होगी और उसका वारण भी न हो सकेगा, तो पुरुषार्थ व्यर्थ हो जायगा तथा शास्त्र व्यर्थ होंगे। (२) लोकमें भी जैसे अपराधके फलरूपमें अपराध नहीं कराया जाता किन्तु उसका दण्ड दिया जाता है, ठीक वैसे ही पापका फल पापमें प्रवृत्ति नहीं है किन्तु दुःख ही होता है, अन्यथा कभी पापियोंकी पापसे निवृत्ति ही न होगी। (३) जो वेदान्तियोंका कहना है कि तत्त्वज्ञानीकी पाप में प्रवृत्ति प्रारब्धवश होती है और उसके भी अविद्यालेशकी अनुवृत्ति होती है। यह बिल्कुल ठीक नहीं है, क्योंकि ज्ञानीके अविद्यालेशमें कोई प्रमाण नहीं है। पापमें प्रवृत्ति काम या आसक्तिसे होती है, (४) काम आदि अन्तःकरणके धर्म नहीं हैं किन्तु विकार हैं—'एतत् क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्'। विकार ज्ञानीमें नहीं हो सकता। अतः 'पंचदशी' आदि वेदान्त ग्रन्थोंमें जो ज्ञानीमें अविद्यालेशानुवृत्ति बताई गई है, कामादि अन्तःकरणके धर्म बताये गये हैं तथा दुराचारोंमें प्रारब्धवश उसकी प्रवृत्ति बताई गई है, यह सब शास्त्र उक्ति और अनुभवसे विरुद्ध है तथा दुराचार के प्रचार एवं सदाचारकी उपेक्षाका निदान है। (५) ज्ञानीके पुण्य-पाप, सुहृत्–सेवक और निन्दक को मिलते हैं' इत्यादि भी युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि ज्ञानीको पाप होता ही नहीं'।

पाठक ! यही संक्षेपसे दोनों लेखोंका तात्पर्य है।

बहुतसी बातें इसी सम्बन्धमें और भी कही गई हैं, जिनका

विचार हम प्रसंगानुसार करेंगे। सदाचार, भगवत्परायणता आदि सद्गुणों के प्रचार एवं दुराचारादि दोषोंकी निवृत्तिके प्रचार की भावनासे इन लेखोंमें जितने अंश लिखे गये हैं उतने अंशोंकी हमभी प्रशंसाही करते हैं, परन्तु जिनसे कुटिलतासे किसी सिद्धान्तपर दोषारोपणके लिए अनुचित रूपसे व्याजतः अनर्थ किया गया है उन्हीं अंशोंका यहां खण्डन किया जायगा।

प्रथम संक्षेपसे आक्षेपोंका समाधान लिखा जाता है—

जो लोग विषयासक्तिको पापका हेतु मानते हैं उन्हेंभी विषयासक्तिके हेतुका अन्वेषण करना आवश्यक होगा। विषयासक्तिका हेतु विषयभोगाभ्यास, विषयभोगाभ्यासका हेतु कर्माभ्यास और कर्माभ्यासका हेतु पुनः विषयासक्ति या रागादि ही कहना पड़ेगा। तथा च इस प्रबन्धपरम्पराके विच्छेदके लिए क्यों किसीकी प्रवृत्ति होती है और किसीकी नहीं होती? इसपर यदि कहें कि किसीका प्रमाद किसीकी सावधानी ही इसका कारण है तो यह प्रश्नपरम्परा वहां भी विरत नहीं होती। जहांकि भगवान् तथा वेदशास्त्र विषयासक्ति तथा कामक्रोधादि दोषोंको त्यागकर सन्मार्गमें प्रवृत्त होनेके लिए बराबर समस्त प्राणियोंको उपदेश दे रहे हैं। तब क्यों कोई ही सावधान होते हैं, कोई प्रमादसे शास्त्र तथा भगवान्की आज्ञाको अवहेलना क्यों करते हैं? ऐसी परिस्थितिमें कुछ न कुछ प्राक्तन संस्कारको हेतु माने विना उद्धार होही नहीं सकता। कुछ लोग कर्मोंके प्रारब्ध परतन्त्र होनेमें विधिनिषेधात्मक शास्त्रकी व्यर्थापत्ति समझते हैं क्योंकि कर्मपरतन्त्र मनुष्योंपर शास्त्रका शासन असम्भव है। अतः

समस्त नर-नारी कह सकते हैं कि हमतो प्रारब्धपरतन्त्र होकर पाप कर रहे हैं। शास्त्र मानना हमारे लिये सम्भव नहीं है। इसका उत्तर यह है कि प्रारब्धाधीन कार्योंमें भी विधि या निषेध सम्भव है।

हम इन दूषणोद्भावक महानुभावसे प्रश्न करते हैं कि सुख-दुःख तो आपके मतमें भी प्रारब्धाधीन हैं, परन्तु क्या संसारमें दुःख-परिहार या सुखप्राप्तिके लिए प्रयत्न किया जाता है या नहीं? सुखप्राप्ति या दुःखपरिहारके उपाय तथा उपायोपदेश सार्थक हैं या निरर्थक? प्रारब्धप्राप्त रोगनिवारणार्थ चिकित्साशास्त्र तथा उपाय सार्थक हैं या नहीं? आपके सिद्धान्तमें क्या नर-नारी नहीं कह सकते कि हम प्रारब्धपरतन्त्र हैं। हमारे लिए उपायोपदेश मानना सम्भव नहीं है। हम तो ठीक इसके विपरीत देख रहे हैं कि मनुष्य प्रारब्धाधीन भी अभिलषित सुख एवं तदीय अनन्त साधनोंके लिए तीव्रगतिसे प्रयत्नशील होकर शास्त्र तथा उसमें कहे गये उपायोंका आदर करते हैं। इसी तरह प्रारब्धप्राप्त दुःखके भी परिहारके लिये सभी मनुष्य सचेष्ट हो रहे हैं। ठीक, इसी तरह प्राक्तन संस्काराधीन पुण्यपापके होनेपर भी पुण्यप्राप्ति तथा पाप-परिहारके लिए चेष्टा हो सकती है। यह बात दोनों पक्षमें समान है कि सुख दुःख तथा लौकिक तत्साधनोंके प्रत्यक्षादि सिद्ध होनेसे तथा स्वाभाविक राग-द्वेषकी विषयता होनेसे उनकी प्राप्ति तथा परिहारमें सर्वसाधारणकी उत्कट प्रवृत्ति होती है। पुण्य और पापके शास्त्रगम्य होने तथा स्वाभाविक रागद्वेषके आस्पद न होनेसे सर्वसाधारणकी तत्प्राप्ति परिहारमें उत्कट प्रवृत्ति नहीं होती किन्तु आस्तिक एवं शास्त्रमें श्रद्धावानोंका ही शास्त्रगम्य पुण्यपापमें राग तथा द्वेष होता है और उन्हींकी पुण्यानुष्ठान तथा पापपरिहारमें

प्रवृत्ति होती है। उन्हींके लिए शास्त्र सार्थक हैं। यदि प्रारब्धाधीन सुखदुःख प्राप्ति परिहारमें भी उपदेश तथा प्रयत्न अत्यन्त आदृत और सफल हो रहे हैं, तो प्रारब्धाधीन पुण्य-पापकी प्राप्ति और परिहारमें भी शास्त्रोपदेश तथा प्रयत्न आदृत और सफल क्यों न हों? तस्मात् प्रारब्ध तो अचिन्त्य एवं अदृष्ट है, फलके पश्चात् फलबलसे उसके स्वभावकी कल्पना होती है। यह समझ कर बुद्धिमान उपदेश तथा प्रयत्नका पूर्ण सम्मान करते हैं। कारण कि प्रारब्धाधीन ही जब हमें बुद्धि वैभव तथा देहेन्द्रियादि शक्ति प्राप्त हैं, तो यह पहलेसे ही कैसे समझ लें कि हमारे प्रारब्धमें सुख-तत्साधन हैं ही नहीं, दुःख ही है और इसकी निवृत्ति हो ही नहीं सकती या पुण्य हम करही नहीं सकते, पाप ही हमारे प्रारब्धमें है अतः जैसे परमात्माकी कृपासे सामर्थ्य तथा सामग्रीसे सम्पन्न होकर नर-नारी सुखादिके लिए पूर्ण प्रयत्न करते हैं वैसे ही धर्मादिके लिए भी पूर्ण प्रयत्न कर सकते हैं। जैसे पूर्ण प्रयत्न करनेपर सुख प्राप्ति और दुःखपरिहारके न होने पर लौकिक पुरुष प्रयत्नमें कुछ त्रुटिकी कल्पना करते हैं और शास्त्र-विश्वासी फलबलकल्प्य प्रबल दैवको ही मानकर सन्तोष करते हैं, वैसे ही धर्मादिकी प्राप्ति आदिके लिए पूर्णातिपूर्ण प्रयत्न करने पर भी यदि सफलता न हुई, तो प्राकृत पुरुष कुछ त्रुट्यन्तरकी कल्पना करता है और आस्तिक प्रबल दैवको ही हेतु कहता है। पूर्वोक्त कथनसे ही द्वितीय आक्षेपका भी समाधान हो जाता है, जिसमें कहा गया है कि प्रारब्धरूप पापका फल पाप होनेसे प्राणीको पाप करनेके लिए बाध्य होना पड़ेगा और इस तरहसे पापसे पुनः पाप ही होंगे ऐसी हालतमें पापसे छूटनेकी कोई आशा नहीं। साथ ही यह

भी सिद्ध होता है कि ऐसा विधान करनेवाला परमेश्वर पाप-बन्धनोंसे मुक्त नहीं करना चाहता इत्यादि । कारणकी जिस तरह किसी प्रबल दैवकी निवृत्ति अशक्य होनेपर भी प्रारब्ध प्राप्त दुःखादि की निवृत्ति प्रयत्नसे हो सकती है, वैसे ही किसी प्रबल प्रारब्धके अनिवार्य होनेपर भी प्रारब्ध प्राप्त पापकी निवृत्ति हो सकती है । आपने भी 'सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि' इस श्लोकके अनुसार स्वभावानुरूप चेष्टाको स्वीकार किया है । तथा च स्वभावके ही अनुरूप कर्म तथा कर्मानुरूप ही स्वभाव मानना पड़ेगा । ऐसी स्थितिमें कर्मानुरूप स्वभाव, स्वभावानुरूप कर्म, यह परम्परा आपके मतमें भी अनिवार्य रहेगी । आपसे प्रश्न किया जाय कि स्वभाव सहेतुक है या निर्हेतुक है ? यदि निर्हेतुक है, तो नित्य होनेके कारण उसकी निवृत्ति नहीं हो सकेगी अतः उसे सहेतुक कहना पड़ेगा । तथा च जैसे सहेतुक स्वभावकी निवृत्तिके लिए प्रयत्न सम्भव है वैसे ही सहेतुक पापके परिहारके लिए प्रयत्न सम्भव है, जैसे परमात्माने दुष्ट स्वभावको बाँधकर सत्कर्म करनेके लिए प्रयत्नोपयोगी सामग्रीका प्रदान किया है, यही समझकर प्राणी दुर्निवार्य भी स्वभाव तथा दोषोंकी निवृत्तिके लिए प्रयत्न कर सफल होता है । इसीसे स्वभाव कर्मपरम्परा टूट जाती है । ऐसे ही प्रारब्धपरम्परा भी टूट सकती है तथा ईश्वरविधानमें भी कोई अनौचित्य नहीं आता ।

अत एव लोकमें अपराधके बदलेमें अपराध नहीं कराया जाता । तब परम न्यायकारी परमात्माके कानूनमें पापके बदले पाप कैसे कराया जा सकता है, इस तृतीय आक्षेपका स्थान नहीं है, कारण कि लोकमें प्राणियों की प्रवृत्तिका हेतु राजा नहीं होता । प्रवृत्ति-निवृत्ति प्राणियोंके अधीन है, निग्रहानुग्रह राजाके अधीन

है। परन्तु यहां तो प्राणियोंकी देहेन्द्रिय, मन, बुद्धि आदिकी चेष्टा भी परमेश्वराधीन, है यह विशेषता है–

एप उ एव साधु कर्म कारयति।

यदि वह स्वतन्त्र प्राणिप्रवर्तन या निवर्तन करे, तो उसमें विपमतादि दोप अनिवार्य होंगे, अतः प्राक्तनकर्म सापेक्ष ही परमात्मा शुभाशुभ कार्य में प्रवर्तन और निवर्तन करते हैं। राजाको निग्रहानुग्रहके लिए ही कर्मकी आवश्यकता है, परमेश्वर को निग्रहानुग्रह तथा प्रवर्तन निवर्तन सभीके लिए कर्मकी अपेक्षा है। प्राकृत राजासे भगवानमें यह विशेपता है।

इसके अतिरिक्त चतुर्थ आक्षेपमें जो यह कहा गया है कि शास्त्रोंमें पापके फलमें रोगादि की ही प्राप्ति कही गई है। जब ईश्वर स्वयं ही जीवसे पाप कराता है और स्वयं ही दण्ड देता है, तो इससे ईश्वरका अन्याय सिद्ध होता है। यह भी निर्मूल है; क्योंकि यदि परमात्मा प्राणियोंके कर्मोंसे निरपेक्ष हो स्वतन्त्ररूपसे उन्हें पापमें प्रवृत्त कराता, तो उस पर यह अन्याय लागू हो सकता था। साथही प्राणिकर्मानुरूप ही पापनिवृत्ति सामग्री प्रदान तथा पापनिवर्तन भी करते हैं। अतः उनका कोई अन्याय नहीं है, "कृतप्रयत्नापेक्षस्तु परात्तु तच्छ्रुतेः" (व्या. सू.) शास्त्रोंमें कर्मानुरूप ही ईश्वरसे प्रवृत्यादि भी श्रुत हैं।

पञ्चम आक्षेप यह है कि यदि परमात्माही पुण्य-पाप कराता है, तो उसका फल भी उसीको भोगना चाहिए। कर्म करनेके लिए बाध्य करे ईश्वर, और फलभोग करे जीव, यह भी ईश्वरका अन्याय ही है। इस आक्षेपका भी अवकाश नहीं है, कारणकि

ईश्वर प्राणिकर्मानुरूप ही प्राणिको प्रवृत्त करता है और तदनुरूप ही फल भी देता है; स्वयं क्यों भोगे ? अभिप्राय यही है कि जब प्रथम ही यह प्रश्न होता है कि ईश्वरने सृष्टि ही क्यों रची ? सृष्टि रची भी तो विषम सृष्टि क्यों रची ? उसे सभी को बुद्धिमान सदाचारी और सुखी ही बनाना था, किसीको मूर्ख, दुराचारी, दरिद्र और निर्बल क्यों बनाया ? यदि शुरू से ही सभी सावधान या प्रमादी ही होते, तब तो आज यह विषमता ही नहीं उपलब्ध होती। अतः ईश्वर अन्यायी है। परन्तु सर्वज्ञकल्प महर्षिवृन्द श्री बीजाङ्कुरन्यायसे सृष्टिको अनादि बता रहे हैं अर्थात् पूर्व-पूर्व प्राणि-कर्मकी विषमतासे ही सृष्टिकी विषमता हुई, प्राणियोंकी बुद्धिमत्ता तथा सावधानीसे स्वधर्मपरायणता एवं मूर्खता तथा प्रमादसे पाप-परायणता, इत्यादि कर्मानुरूप ही हुई हैं। सिवा इसके और किसी के पास कोई उत्तर नहीं है। क्या मुक्तिके पहले कोई भी ऐसी अवस्था सिद्ध होती है जब कि सभी प्राणी समानरूपसे निर्वि-कार रहे हों, जबसे कि परमेश्वरने अकस्मात् उन्हें विषमसङ्कल्प द्वारा विषम प्रवृत्तिमें नियुक्त किया हो ? यदि ऐसी बात है तो परमात्मा अवश्य अन्यायी हो सकता है। परन्तु जब कि प्रत्येक जीवका बन्धन पुण्य-पाप तथा तदनुसार भोगमें प्रवृत्ति अनादि है तब तो प्राक्तन संस्कारानुसार परमेश्वर द्वारा प्रवृत्ति-निवृत्ति होनेमें कोई भी अनुपपत्ति नहीं है। जो—

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥

इस श्लोकका यह अर्थ करते हैं कि स्वभाव-वश प्राणियोंकी चेष्टा होती है और कहते हैं कि यहां प्रकृतिका अर्थ कर्म संस्कार

नहीं । यदि ज्ञानवान भी प्रकृति-परवश पाप करने में बाध्य होगा, तो—

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
न तयोर्वशमागच्छेत् तौह्यस्य परिपन्थिनौ ॥

इत्यादिसे पापोंके मूल रागद्वेषसे बचनेके लिये क्यों आज्ञा दी जाती ? क्योंकि ऐसी अवस्था में तो बचना न बचना उसके हाथमें है ही नहीं । अतः प्रकृतिका अर्थ स्वभाव है अर्थात् स्वभावानुसार प्राणियोंको कर्म करना पड़ता है, इसमें हठ करना व्यर्थ है । यह भी पूर्वापर विरुद्ध ही है, कारण कि यदि यह मान भी लिया जाय कि प्रवृत्तिका अर्थ स्वभाव ही है तब भी तो स्वभावानुसार प्राणीकी चेष्टा होगी और उसमें हठ करना व्यर्थ है । ऐसा श्लोकार्थ (पृ. ५४८ कल्याण वेदान्तांक में) आपने लिखा है । परन्तु ऐसी स्थितिमें रागद्वेषके त्यागके लिए उपदेश व्यर्थ हुआ, कारण कि जब आपके मतमें स्वभावके सामने हठ कुछ नहीं कर सकता तो जिसका पाप स्वभाव है उसकी पापमें प्रवृत्ति होगी ही, हठ व्यर्थ है । फिर रागद्वेष स्वभाववाले प्राणीका रागद्वेष भी कैसे छूट सकता है और उसके हटानेके लिये हठ कैसे सार्थक होगा । इस तरह आपके मतमें भी उपदेश व्यर्थ हुआ । किञ्च, आपके मतमें ज्ञानीके लिए रागद्वेषके त्यागका उपदेश ही नहीं बनता, कारण कि आप लिख चुके हैं कि ज्ञानीके अशुद्ध स्वभावका नाश साधन कालमें ही हो चुका । शुद्ध स्वभावमें राग-द्वेष होते ही नहीं, फिर त्याग किसका करेगा । रहा अज्ञानीके लिए, उसकी भी पापस्वभावानुसार पापमें प्रवृत्ति होगी ही, हठ व्यर्थ है । यह आपके ही व्याख्यानानुसार सिद्ध है । फिर वहां भी रागादि त्यागके लिए ह

व्यर्थ है । अतः रागद्वेष त्यागका महत्त्वपूर्ण श्लोक व्यर्थ हुआ, अतः तुम्हें भी घट्टकूट्टीप्रभात न्यायसे कहना पड़ेगा कि पाप मूल रागद्वेषके त्यागमें प्रयत्नकी कमी या अभाव होनेसे ही प्राणीकी स्वभावानुसार चेष्टा होगी । तथा हठ व्यर्थ होगा, सो प्राक्तन कर्म ही यदि प्रकृतिका अर्थ ले, तो भी समान ही समाधान है अर्थात् राग-द्वेष त्यागके प्रयत्नसे स्वभावानुसारिणी चेष्टाका बाध होता है, क्योंकि प्रयत्नसे स्वभाव कमजोर होजाता है, ऐसे ही उक्त प्रयत्न से प्राक्तन संस्कार भी कमजोर हो जाता है, क्योंकि प्रयत्नसंस्कार भी उसी प्राणीके प्रयत्नसे ही हुए हैं, वर्तमान तीव्र विरोधी प्रयत्नसे प्राक्तन संस्कारानुसारिणी चेष्टाओंका बाध हो जाता है । जैसे प्रयत्न की न्यूनतासे स्वभावानुसारिणी चेष्टाका बाध नहीं होता वैसे ही इधर भी प्राक्तन संस्कार के तिरस्कारमें असमर्थ प्रयत्नसे संस्कारानुसारिणी चेष्टाका बाध नहीं होता । उसीको वेदान्ती फलबल कल्प्य प्रबल प्रारब्धका कार्य मानते हैं ।

लेखकने भेदनीतिके साथ आचार्य विद्यारण्यका बड़ा सम्मान करते हुए उनके 'अपथ्यसेविनश्चौराः' इत्यादि श्लोकोंको क्षेपक बतलानेका प्रयत्नकिया है और इससे संस्कारकी दुराचारमें प्रवृत्ति बतलाई है । परन्तु लेखकको यह पता नहीं है कि भाष्यकार शङ्कराचार्य भगवान तथा तदनुयायी सभी आचार्य प्रकृतिका अर्थ प्राक्तनसंस्कार ही मानते हैं और सर्वप्रकारकी व्यवस्था भी सम्पादन करते हैं, जिससे किसी प्रकारकी अनुपपत्ति नहीं आती ।

मैं इसी विषयमें आचार्यप्रवर श्रीमच्छङ्कर भगवत्पादके भाव उद्धृत करता हूँ प्रथम श्रीकृष्ण परमात्माने प्राणियोंके परम हितकर 'मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा, इत्यन्त श्लोकोंसे

भगवत्समर्पणबुद्धिसे श्रौतस्मार्तधर्मानुष्ठानका उपदेश देकर कहा 'ये मे मतमिदं नित्य मनुतिष्ठन्ति मानवाः' जो प्राणी श्रद्धासहित अनसूयु होकर मेरे इस मतका अनुष्ठान करेंगे वे कार्योंसे मुक्त हो जायंगे।

तथा—'ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान् विद्धि नष्टानचेतसः ॥'

(ईर्ष्यावश जो मेरे इस मतका अनुष्ठान नहीं करते, हे पार्थ उन्हें सर्वज्ञानविमूढ अविवेकी समझो) इसपर आशंका हुई—कस्मात्पुनः कारणात् त्वदीयं मतं नानुतिष्ठन्ति परधर्माननुतिष्ठन्ति स्वधर्मंश्च नानुवर्त्तन्ते त्वत्प्रतिकूलाः कुतो न बिभ्यति, त्वच्छासनातिक्रमदोषात्' शा. भा. (भगवन्! प्राणी क्यों स्वधर्मानुष्ठान तथा परधर्माननुष्ठानरूप आपके मत को न मान कर विपरीत चेष्टा करते हैं और आपके प्रतिकूल होकर आपके शासनातिक्रमरूप दोषसे क्यों नहीं डरते) तत्राह—'सदृशं चेष्टते स्वस्याः' (वहाँ पर भगवान् कहते हैं—समस्त जन्तु अपनी प्रकृतिके अनुरूप ही चेष्टा करते हैं) "प्रकृतिर्नाम पूर्वकृतधर्माधर्मादिसंस्कारो वर्तमानजन्मादावभिव्यक्तः सा प्रकृतिः' शा. भा. 'आदिशब्देन ज्ञानेच्छादि संगृह्यते' आनन्दगिरिः। प्रकृतिशब्दसे पूर्वजन्ममें कृत धर्माधर्म ज्ञानेच्छादिजन्य संस्कार ही विवक्षित हैं, जो कि वर्तमान जन्मके आदिमें फलोन्मुख होकर अभिव्यक्त हुए हैं, उन्हीं प्राक्तन कर्मादि संस्कारोंके अधीन ही समस्त प्राणियोंकी चेष्टा होती है। सन्देह हुआ कि सब जन्तुओंकी प्रवृत्ति प्रकृतिके अधीन कहना अनुचित है, क्योंकि विवेकी की ऐसी प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। इसपर 'पश्वादिभिश्चाविशेषात्' इति न्यायमनुसरन्नाह—'ज्ञानवानपि' आनन्द गिरि (व्यव-

हारकालमें तत्त्वज्ञकी भी प्रवृत्ति पशुओंके समान ही होती है, अतः ज्ञानवान् भी प्रकृतिपरतन्त्र ही चेष्टा करता है, फिर मूर्खकी तो बात ही क्या है ? सन्देह हुआ कि इस प्रकृतिका निग्रह आपको या किसी समर्थको करना चाहिये ? इसपर कहते हैं—'प्रकृतिं यान्ति— समस्त ज्ञानवान् या अज्ञानवान् प्राणी प्रकृतिके अनुसार ही चलते हैं, मेरा या किसी का निग्रह या हठ कुछ नहीं कर सकता। इसपर पुनः सन्देह हुआ—'यदि सर्वो जन्तुरात्मनः सदृशमेव चेष्टते नच प्रकृतिशून्यः कश्चिदस्ति ततः पुरुषकारस्य विषयानुपपत्तेः शास्त्रानर्थक्यप्राप्ताविदमुच्यते'। शा. भा. (यदि सभी प्रकृतिके अधीन हो कर ही चलते हैं और प्रकृतिविहीन भी कोई नहीं है तब तो सभी प्रकृति यानें प्राक्तनकर्म संस्कारके अनुसारही चेष्टा करेंगे, फिर तो पुरुषकारका विषयही न रह जायगा। अतः विधिनिषेधरूप शास्त्र व्यर्थ हो जायगा, क्योंकि प्रकृत्यधीन मनुष्य कैसे शास्त्रकी आज्ञा का पालन कर सकेगा ? इसपर भगवान् कहते हैं—'इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ। न तयोर्वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ' समस्त इन्द्रियोंका अपने अपने विषय में राग-द्वेष व्यवस्थित हैं। अभीष्टमें राग अनिष्टमें द्वेष अवश्यम्भावी है। पुरुषकारका विषय यही है। तथा शास्त्रसार्थकताका भी विषय यही है कि शास्त्रके अर्थमें प्रवृत्त प्राणी उन राग-द्वेष के वश न जावे, क्योंकि राग-द्वेष के विना प्रकृति प्राणी को स्वकार्य में नहीं प्रवृत्त कर सकती—'या हि प्रकृतिः सा रागद्वेषपुरःसरैव स्वकार्ये पुरुषं प्रवर्तयति' शा. भा., यदि प्राणी मिथ्याज्ञानसमुद्भूत रागद्वेषका अपनयन तत्प्रतिपक्षभूत विवेक विज्ञानद्वारा कर देता है, उस समय पुरुष केवल शास्त्रदृष्टिही रहता है, फिर प्रकृति परवश नहीं होता—'यदा पुना रागद्वेषौ तत्प्र-

तिपक्षेण नियमयति तदा शास्त्रदृष्टिरेव पुरुषो भवति नतु प्रकृतिपरवशः' शा. भा.। क्योंकि रागद्वेष ही प्राणीके पुरुषार्थके परिपन्थी हैं, जैसे जलरूप सहकारीके विघट्टनसे मृत्तिका घट नहीं बना सकती वैसेही राग-द्वेषरूप सहकारीके विना प्रकृति पुरुषको स्वानुकूल कार्यमें प्रवृत्त नहीं करा सकती, अतः सत्पुरुष और सच्छास्त्रका संग करके विवेक विज्ञानद्वारा व्यवथित राग-द्वेष को मिटा कर सहकारी विघट्टन प्रथम मुख्य पुरुषार्थ की भूमिका है।

इष्ट शब्द आदिमें राग अनिष्ट में द्वेष होने से प्रकृतिपरवश प्रवृत्ति अनिवार्य है अतः उनका नाश करनाही मुख्य है। चोर तथा हिंसकोंकी भी प्रवृत्ति रागास्पद तथा द्वेषास्पदके ही स्तेय या हिंसा में होती है, विपरीतमें नहीं होती। अतः स्पष्ट होगया कि रागद्वेषके अपनयन विना ज्ञानी, अज्ञानी सभी प्रकृति यानी दैव या प्राक्तन कर्मज्ञानेच्छादि संस्कारके परतन्त्र होते हैं और उस प्रकृति का निग्रह विना रागद्वेषके मिटाये ईश्वर भी नहीं कर सकता। बस, इसी सिद्धान्तका वर्णन 'पञ्चदशी' के 'अपथ्यसेविनः' इत्यादि श्लोकोंमें किया गया है। अर्थात रोगी कुपथ्यसेवनमें अनर्थ समझता हुआ भी प्रकृतिपरवश कुपथ्य कर बैठता है एवं चौर तथा राजदाररत यह खूब जानते हैं कि यदि मैं कहीं पकड़ा गया, तो मेरी अत्यन्त दुर्गति होगी, परन्तु फिर भी प्रकृतिवश इच्छा करके उन अनर्थोंमें प्रवृत्त होते हैं। किसी भी दुष्कृत के प्रथम प्रवृत्ति कालमें प्राणीकी अन्तरात्मासे ऐसा आदेश मिलता है 'यह अनर्थ है, खबरदार, इससे बचना चाहिए'। कोई पुरुष शास्त्राचार्योपदेशजन्य संस्कारवान सावधान हो जाता है, परन्तु कोई दुःसंस्कारवश अन्तरात्माके आदेश की अवहेलना करके प्रवृत्त हो जाता है, इस

तरह प्रकृतिनिग्रह किसीसे भी नहीं हो सकता, केवल एक ही उपाय है कि कुपथ्य, परद्रव्य, राजदारमें राग हटाया जाय, विवेक विज्ञान से अतिशय प्रयत्न करने से जब उक्त पदार्थोंमें राग मिट जाता है तब प्रकृतिके सहकारीका विघटन हो जानेसे वह निर्बल हो जाती है। फिर प्राणी स्वतन्त्र होकर शास्त्रोक्त विधि प्रतिषेधोंके अनुसार चेष्टा करता हुआ सहज ही उन अनर्थोंसे बच जाता है। ईश्वर भी उक्त विवेकमें प्रयत्नद्वारा रागद्वेष मिटाकर ही प्राणिप्रकृतिको निर्बल करके निगृहीत करते हैं। रागादि मिटाये बिना साक्षात् निग्रह नहीं कर सकते। क्योंकि यह नियम भी परमेश्वरका ही बनाया है— 'निग्रहः किं करिष्यति'। ऐसे ही अनिच्छा प्रारब्धका भी समर्थन पञ्चदशीकारका ठीक ही है।

'अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥'

अर्जुनका प्रश्न है— भगवन्, कहीं कहीं प्राणी पापोंसे घृणा करता हुआ हठात् किसीसे नियुक्त-सा होकर पाप करता है, सो वह कौन है जो बलात्कारसे इच्छाके न रहते हुए भी प्राणीको पापमें प्रवृत्त करता है। इस पर श्रीभगवान् कहते हैं— 'काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः' अर्जुन रजो गुणसमुद्भूत काम और क्रोध ही बलात्कारसे पापमें प्रवृत्त करानेवाले हैं। यद्यपि रज तो सर्वत्र ही है परन्तु जहांपर पापसंस्कारसे वह क्षुब्ध हो जाता है वहीं काम-क्रोधको उत्पन्न करता है, सर्वत्र नहीं। आस्तिक पुरुष शास्त्रोंद्वारा परदार गमनको परमानर्थका हेतु समझकर उससे बचनेका प्रयत्न करता है, परन्तु कामके वशमें

आकर उसे बलात्कार पापमें प्रवृत्त होना पड़ता है, यही अनिच्छ प्रारब्ध है। परन्तु यहां पञ्चदशीकारका यह अभिप्राय नहीं है कि इनका प्रतिकार नहीं हो सकता, उनका तो केवल इच्छापूर्वक प्रारब्ध तथा अनिच्छा पूर्वक प्रारब्ध के निरूपणमात्रमें तात्पर्य है। भगवान् ने 'निग्रहः किं करिष्यति' से यह नहीं कहा कि स्वाभाविक चेष्टाके लिए प्रतीकार व्यर्थ है किन्तु स्वयं ही 'इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ' इत्यादिसे प्रकृतिपारवश्यकी निवृत्तके लिए निखिल पापके मूल राग-द्वेषका त्यागरूप उपाय बताया है। तथा अनिच्छापूर्वक बलात् पापप्रवृत्तिके भी निरोधका उपाय बताया है 'पाप्मानं प्रजहि ह्येनम्' (हे अर्जुन, इस सर्वस्वनाशक परमशत्रु काम और क्रोधको मार। इसके वधके विना अनर्थनिवृत्ति कदापि नहीं होसकती) साथ ही कामादिके नाशका उपाय भी बतलाते हैं—

'एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥'

ठीक ऐसे ही पञ्चदशीकारने भी पूर्वोक्त भगवद्वाक्योंके ही आधारपर प्राणियों की परतन्त्र चेष्टारूप इच्छाऽनिच्छापूर्वक प्रवृत्तिदिखलाई है। अनर्थज्ञान होते हुए भी कुपथ्य सेवनादि इच्छापूर्वक जो चेष्टा है तथा अनिच्छापूर्वक कामादिसे जो दुश्चेष्टाएँ हैं वे दोनों ही चेष्टायें प्रकृतिके ही अधीन हैं, इनका निग्रह साक्षात् ईश्वर भी नहीं करता। परन्तु उनका अभिप्राय यह समझना कि दोषोंकी निवृत्ति होती ही नहीं, क्योंकि वह तो प्रारब्धाधीन है उसकी निवृत्ति हो ही नहीं सकती—नितान्त अनभिज्ञता है 'न होष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति'(यह स्था

णुका अपराध नहीं है जो अन्धा उसको नहीं देखता) यह पञ्चद-शीका दोष नहीं जो पौर्वापर्यज्ञानशून्य उसके तात्पर्य को न समझें। इसी वास्ते तो वेदान्त ज्ञानके लिए शान्त दान्त समाहित होकर श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ आचार्य के समाश्रयण की आवश्यकता है। अन्यथा ऐसे ही वाक्यों के दुरुपयोग से प्राणी अपना नाश कर लेता है। ऐसे ग्रन्थचुम्बकोंने श्रीमद्भागवतादि सच्छास्त्रोंको दूषित कर दिया है और उन्हें दुराचार प्रचारका हेतु समझ रक्खा है। अस्तु, पञ्चदशी केवल प्रकृतिपरवश चेष्टा को ही इच्छा ऽनिच्छा परेच्छा प्रारब्ध, इन तीन रूपसे वर्णन करती है, कोई प्रकृति को यदि स्वभाव ही कहे, तौ भी उसे कोई आपत्ति नहीं, वह स्वभावज चेष्टाओं को भी तीन रूपमें विभक्त कर सकती है। भगवान् भी **'स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा' प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति**, इत्यादि से स्वभावज कर्मकी अनिवार्यता तथा प्रकृतिकी नियोक्तृता सिद्ध करते हैं। यदि स्वभाव क्या है ? सहेतुक है या निर्हेतुक है, इत्यादि प्रश्न परम्परा चलेगी तो बलात् कर्मादिजन्य संस्कार को ही स्वभाव कहना पड़ेगा। जैसे भगवान् ने प्रकृतिपारवश्यनिवृत्ति का रागादि दोषपत्यागरूप उपाय बतलाकर अर्थात् सिद्ध कर दिया कि रागादिदोषपत्यागरूप उपाय के बिना ही प्रकृति दुर्निवार्य है परन्तु उक्त उपाय से तो उसका निवारण सुगम ही है वैसे ही पञ्चदशी कारने भी

"अशास्त्रीयमपि द्वैतं तीव्रं मन्दमिति स्मृतम्।
कामक्रोधादिकं तीव्रं मनोराज्यं तथेतरत्॥
उभयं तत्त्वबोधात् प्राक् निवार्यं बोधसिद्धये।
शमः समाहितत्वञ्च साधनेषु श्रुतं यतः॥

शुनां तत्त्वदृशाञ्चैव को भेदोऽशुचिभक्षणे ।
बोधात् पुरा मनोदोषमात्रात् क्लिश्नास्यथाधुना॥
अशेषलोकनिन्दा चेत्यहो ते बोधवैभवम् ।
विड्वराहादितुल्यत्वं माकाङ्क्षीस्तत्त्वविद्भवान्॥
सर्वधीदोषसंत्यागाल्लोकैः पूज्यस्व देववत् ।

विचारवान के लिए विषयानुराग का असम्भव आचार्य कहते हैं—

"क्षुधया पीड्यमानोऽपि न विषं ह्यत्तुमिच्छति ।
मिष्टान्नध्वस्ततृड् जानन्नामूढस्तज्जिघत्सति ॥
विविच्य नाशं निश्चित्य पुनर्भोग न वाञ्छति ।
मुमूर्षुः शायितो भूमौ विवाहं कोऽभिच्छति ॥

(अत्यन्त क्षुधातुर भी विष नहीं खाता, फिर तृप्त कैसे खायेगा ? मुमूर्षुः को जैसे विवाह की रुचि असम्भव है वैसे ही तत्त्ववेत्ताको भोग की वाञ्छा) इत्यादि श्लोकों से स्वाभाविक दोष तथा चेष्टाओं के त्याग का पूर्ण आग्रह तथा उपाय का उपदेश करके अर्थात् सिद्ध कर दिया है कि यद्यपि रागादिदोषत्यागरूप उपायोंके विना प्रकृतिपरतन्त्र चेष्टाओं का अर्थात् इच्छाऽनिच्छा प्रारब्धों का निवारण किसी को भी शक्य नहीं है, परन्तु शास्त्रनिर्दिष्ट उपायों से प्रकृतिपारतन्त्र्य या प्राक्तनकर्मसंस्कारपारतन्त्र्य की निवृत्ति हो सकती है । इसी वास्ते जीवन्मुक्तिविवेक में उन्होंने स्पष्ट ही प्रारब्ध से भी पुरुषार्थ को प्रबल बतलाया है । यदि पूर्वापर प्रसंग विना देखे किसी अंश को क्षेपक कहा जायगा तब तो गीता के भी 'सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेः' निग्रहः किं करिष्यति' इस श्लोक को भी क्षेपक कहा जा सकता है । यदि य

क्षेपक नहीं हो सकता है तो पञ्चदशी के श्लोक कैसे क्षेपक हो सकते हैं ? कारण कि अनभिज्ञों को दोनों ही जगह भ्रान्ति हो सकती है। पौर्वापर्यरहस्यज्ञों के लिए दोनों ही परमोपयुक्त हैं।

अस्तु पूर्व विवेचन से सिद्ध हुआ है कि जैसे गीता को पुरुपार्थ से प्रकृतिपारतन्त्र्यनिरोध मान्य है अतः रागादिदोपत्याग रूप उपाय के विना ही प्रकृतिपरतन्त्र चेष्टा किसी तरह नहीं निरुद्ध हो सकती। वैसे ही पञ्चदशी को भी पुरुपार्थ से त्रिविध प्रारब्ध के अधीन चेष्टाओं का निरोध भी मान्य है। तदुक्त पुरुपार्थ के विना उनका किसी से भी निवारण नहीं हो सकता। जिन्हों ने रागादिदोप त्याग दिये हैं, उन्हीं के लिए पथ्यपरिपालन, स्वदाररमण, न्यायोपार्जित द्रव्य द्वारा भोग का विधायक शास्त्र सार्थक है। दुःस्वभाव परतन्त्रके लिए सब व्यर्थ है। इसी वास्ते प्रथम दुःस्वभाव या दुष्कृत्य संस्कारों के अभिभव के लिए ही प्रयत्न आवश्यक है उसके विना सभी उपायोपदेशक शास्त्र निरर्थक हैं। यद्यपि यह प्रयत्न भी प्राचीन कर्मों-द्वारा प्रसन्न परमेश्वरकी कृपा से ही बन पड़ता है, तथापि अकारणकरुण भगवान् स्वप्रयोजन के विना ही जब किसी प्राक्तनसंस्कारानुसार मनुष्य देह आरोग्य और विवेक तथा विद्यासम्पन्न बुद्धि दे दी तब प्रयत्नकी सामग्री मिल गई। इतने पर भी यदि प्राणी प्रयत्न न करे, तो उसीका दोप है, क्योंकि अब काल, कर्म, ईश्वर, सभी अनुकूल ही हैं तभी तो सामग्री मिली है। सामग्रीप्राप्ति से ही यह बात निश्चित हो गई। इसी वास्ते

"मनुष्यदेहं सुलभं सुदुर्लभं प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम्।
मयानुकूलेन नभस्वतेरितं पुमान् भवाब्धिं न तरेत्स आत्महा॥" भा०

"जो न तरइ भवसागर, नर समाज अस पाय ।
कालहिं कर्महिं ईश्वरहिं, मिथ्या दोष लगाय ॥
सो कृतनिन्दक मन्दमति आतमहतगति जाय ॥"
कर्मप्रधान विश्व रचि राखा, जो जस करै सो तस फल चाखा ।

इत्यादि उक्तियां पुरुषार्थ का भी समर्थन करती हैं । साथ हीं

"ईशस्य हि वशे लोको वायोरिवघनावलिः ।
सुनु खगेश भावी प्रबल, ज्ञानी मूढ न कोइ ।
जिहि क्षण जस रघुपति करहिं, सो तस तेहि क्षण होइ ॥"

इत्यादि उक्तियां प्राणिपरतंत्रताका भी सूचन करती हैं इसके अतिरिक्त जो लेखक ने कहा है कि ज्ञानी से पाप हो नहीं सकता, क्योंकि उसके अज्ञान, अहंकार, रागद्वेषादि नष्ट हो चुके हैं। सब का मूल अज्ञान है उसका नाश होने पर नष्ट हो गये सो यद्यपि ठीक ही है, पाप समर्थनकी आवश्यक भी नहीं है । इससे अज्ञानी दुरुपयोग ही निकालेंगे परन्तु शा रहस्यानभिज्ञोंके सिद्धान्तके प्रति कुछ कुकल्पनाएँ हो सकती अतः कुछ कहना ठीक है ।

'हत्वापि स इमांल्लोकान् न हन्ति न निबध्यते' ।

यदि ज्ञानी से शास्त्रविपरीत चेष्टा ही नहीं होती यह प्रसक्त ही कैसे हुआ कि ज्ञानी लोकवध में प्रवृत्त होगा । यह कहा जाय कि वह तो केवल अज्ञानियोंकी दृष्टिमें ही है, यह तुम्हारा अन्धविश्वास है । इसके सिवाय आप क्या खण्ड करने चले हैं ? मिथ्या ज्ञनियोंके दुराचारका ही न ? परन्तु परिस्थितिमें किसी भी मिथ्यानीके लिए कहा जा सकता है

वह केवल तुम्हारी दृष्टिमें ही पाप कर रहा है। अस्तु, दूसरे की ही दृष्टिमें सही, परन्तु कचित् प्रबलप्रारब्धवश ज्ञानी से भी शास्त्र विपरीत चेष्टा होती दिखाई देती है वह दूसरे की ही दृष्टि में हो यह दूसरी बात है तभी 'हत्वाऽपि स इमाँल्लोकान्' कहा गया है। अत एव क्वचित् प्राचीन कण्डु आदि महर्षियोंकी भी दुष्प्रवृत्ति सुनी जाती है। परन्तु प्रायिक बात यही है कि उनसे सत्कर्म ही होता है, प्रयत्नातिशयसे भी अनिवर्त्य फलबलकल्प्य किसी प्रबल संस्कार से ही कचित् दुराचार दिखाई देता है। इसके सिवा जब स्वभावानुसार ही ज्ञानवानकी भी चेष्टा होती है और ज्ञानी के दुःस्वभाव मिट गये, तो आपके मतमें लोकहनन ज्ञानीके लिए कैसे सम्भव है? वैसे पुण्य भी तो दूसरे की ही दृष्टिमें होते हैं, यह तो नहीं कहा जा सकता कि पुण्य उसकी दृष्टिमें, पाप दूसरे की दृष्टिमें होता है। इसके बाद लेखकने अपने समस्त मन्तव्योंका खण्डन अपने ही शब्दोंमें कर डाला। ज्ञानी पुरुषसे कोई निषिद्ध कर्म होता ही नहीं। उसमें यदि कोई निषिद्ध कृत्य दीखता है, तो वह हमारा दृष्टिदोष है। तथा उसके स्वभावज कर्मकी सदोषताके कारण वैसी प्रतीति होती है—भला, मिथ्याज्ञानीको इससे अधिक पापोंका क्या समर्थन करना था, लेखकका भाव क्या है, यह बात लेखक को भी अवगत नहीं हुई है, भला, यह किस दृष्टि से कहा गया कि ज्ञानीमें निषिद्ध कृत्य यदि देखे जायँ, तो दूसरेका दृष्टि दोष ही है। क्या ज्ञानीके देहादि की प्रवृत्ति नहीं होती है, उसमें दूसरे को प्रवृत्तिका भ्रम है अथवा ज्ञानी की आत्मामें प्रवृत्ति नहीं होती, यदि प्रथम पक्ष मानो, तो ठीक नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष जैसे अज्ञानीके देहादिकी प्रवृत्ति दीखती है वैसे

ही ज्ञानीके भी देहादिकी प्रवृत्ति दीखती है फिर एक जगह ही क्यों दृष्टिदोष ? इसके सिवा पुण्यप्रवृत्ति को भी दृष्टिदोप ही समझना चाहिए। यदि आत्मामें प्रवृत्ति नहीं है, सो तो विहित-निषिद्ध दोनों ही प्रवृत्तियां आत्मामें नहीं हैं, इससे भी ज्ञानी अज्ञानी समान ही हैं। स्वभावज कर्मदोप ज्ञानी के लिए यदि स्वीकृत है तब यह सब पूर्वप्रलाप जिसे स्वीकार ही करता है फिर उसका खण्डन कैसे व्यर्थ ही हुआ। एवं कामक्रोधादि भी अन्तःकरण के धर्म हों, विकार हों, इससे कुछ विशेषता नहीं है, कारण कि भी केवल दूसरे को ही मालूम पड़ते हैं। द्वितीय लेखमें जो प्रश्न पूर्वक यह कहा गया है कि वास्तवमें ज्ञानीके सञ्चित प्रारब्ध और क्रियमाण कर्म सभी नष्ट हो जाते हैं 'यथैधांसि समिद्धोऽग्नि भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन' इत्यादि है। यह अत्यन्त शास्त्रविरुद्ध है कारण, स्पष्ट है—'अनारब्धकार्ये एव तु पूर्वे तदवधेः' ब्या. सू. से यही साबित किया गया है कि अप्रवृत्त फल वाले को ज्ञानके पूर्व सञ्चित पुण्यपाप कर्म हैं, उन्हींका ज्ञान होनेपर क्षय होता है जो प्रवृत्त फल वाले किं वा आगामी कर्म हैं उनका तो भोगसे क्षय और सम्बन्धाभाव आगे सिद्ध किया जायगा, क्योंकि 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये अथ सम्पत्स्ये,' इस श्रुति से क्षेम प्राप्ति में शरीरपात को अवधि बताया गया है। यदि ज्ञान से समस्त कर्म क्षीण हो जायँ, तब तो स्थिति का हेतु न होने से तत्क्षण ही कैवल्य होना चाहिए। अतः 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि, इत्यादि स्थलोंमें प्रारब्धव्यतिरिक्त सञ्चितका ही क्षय कहा गया है। आगामी का भी उत्तरपूर्वाघयोरश्लेपविनाशौ, इत्यादि सूत्रसे अश्लेप (सम्बन्धाभाव) बताया गया है। नाश तो

पूर्वका ही कहा गया है। लेखक ने यह भी कहा है कि कुछ लोग कहते हैं कि ज्ञानी का पुण्य स्तुत्यादिनिरत भक्तों को मिलता है, पाप निन्दादिनिरत शत्रुओं को मिलता है परन्तु वह संगत नहीं है, क्योंकि 'ज्ञानी से पाप हो ही नहीं सकता' इत्यादि यह तो साक्षात् श्रुति से विरुद्ध है। श्रुति कहती है—'**तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति सुहृदः साधुकृत्यां द्विषन्तः पापकृत्याम्,** (ज्ञानी के पुत्र दाय के भागी होते हैं सुहृद् पुण्य कृत्या के द्विषन्त पाप-कृत्या के भागी होते हैं) लेखक का साहस प्रशंसनीय है, उन्हें अपनी धुन में श्रुति, आचार्य, किसी की भी परवाह नहीं, यह बात-जैमिनि और व्यास दोनों को सम्मत है—**अतोऽन्यापि ह्येके-षामुभयोः"** (व्या. सू. ४–१–१७) विद्योपकारक अग्निहोत्रादि कर्म से भिन्न भी काम्यरूपा साधुकृत्या है जिसका विनियोग किसी शाखियोंने 'सुहृदः साधुकृत्यामुपयन्ति' इत्यादि किया है, इसका विशेष विवरण शाङ्करभाष्य तथा अप्पय दीक्षित के परिमल में है—पापकर्माण्यपि प्रारब्धकर्मफलतया ऽवश्यप्राप्याणि।' परिमलके इस टुकड़े से यही साबित किया गया है कि प्रबल प्रारब्धसे प्राप्त पाप भी ज्ञानी को सम्भव है, वही उसके द्विषन् को मिलेगा। लेखक काम, क्रोध को मन का विकार मानता है और विकारका लक्षण करता है सदा न रहने वाला, साथ ही मनन को मन का धर्म मानता है। परन्तु सुषुप्ति समाधिकाल में मनन भी नहीं रहता, अतः वह भी विकार ही हुआ। यदि यह सम्भव है, तब तो कामादि भी सम्भव ही है।

बुद्धिमान् पाठक गम्भीर मनसे विचार करें, वेदाचार्य विद्या-रण्यमुनिका तात्पर्य यदि दुराचार के प्रचार में होता तो 'शुनां

तत्त्वदृशां चैव को भेदोऽशुचिभक्षणे' इत्यादि श्लोकों से तत्त्ववेत्ताओं के लिए भी शमदमादि की आवश्यकता जीवनन्मुक्ति के लिए क्यों बताते ? अतः उनका भाव यह है कि यद्यपि तत्त्ववेत्ताको कामादि या दुराचार में प्रवृत्ति अत्यन्त असम्भावित है, कारण कि तत्त्वज्ञान के पहले ही वे सब समूलोन्मूलित हो चुके हैं, भगवच्चरणाम्बुज समर्पण बुद्धि से श्रौतस्मार्तधर्मानुष्ठान द्वारा समस्त पाप नष्ट होते हैं, अनन्तर नित्यानित्यवस्तु का विवेक, तदन्तर दुःखरूप ब्रह्मलोकान्त फलों अर्थात् सौख्याभासों से वैतृष्ण्यरूप वैराग्य उत्पन्न होता है, ततः शम, दम, उपरति, श्रद्धा, समाधान, तितिक्षा आदि सम्पत्ति प्राप्त होती है, तब उत्कट पिपासा तथा बुभक्षाके समान मुमुक्षा प्राप्त होती है, तब जिज्ञासा, ततः श्रवण, मनन, निदिध्यासन तब साक्षात्कार होता है। इस तरह जब दुराचारनिवृत्ति वैदिक धर्म में प्रवेश करते ही हो गई तथा शास्त्रीय ब्रह्मलोकादिकी भी स्पृहारूप काम से वैराग्य साधन दशा में ही होगया तब ज्ञान दशामें तो दुराचार तथा कामादिकी प्राप्ति होना अत्यन्त असम्भव है। श्रुति कहती है दुश्चरितसे अनिवृत्त अशान्त पुरुषोंको तत्त्वप्राप्ति नहीं हो सकती 'नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः' तथापि यदि कहीं तत्वज्ञों की भी काम क्रोधादि राजस तामस वृत्तियां तथा दुराचार प्रवृत्तियां देखीं जायँ वहाँ के लिए समाधान आवश्यक है। याज्ञवल्क्य का शाकल्य के लिए, शनकादिका जय-विजयके लिए शाप, वसिष्ठ का पुत्रशोक, पराशर, नारद विश्वामित्र, कण्डु आदि तत्त्ववेत्ताओं की कामवश अनुचित चेष्टाएँ, उपनिषद्, भारत, रामायण, विष्णुपुराण आदि सद्ग्रन्थोंमें सुनी जाती हैं। यदि तत्त्ववेत्ताओं की ऐसी चेष्टाएँ नहीं हो सकतीं, तब इन लोगों में कैसे हुईं ? यदि

तत्ववेत्ता नहीं थे तव फिर अस्मदादिको ज्ञान कैसे सम्भव है ? इत्यादि शङ्काएँ होती हैं। इनका समाधान आचार्योंने इस प्रकार किया है कि किसी प्रवल प्रारब्ध के वस इन लोगों से ऐसी दुश्चेष्टाएँ बन गईं। स्वाभाविक वात तो पूर्व कथनानुसार यही है कि तत्त्ववेत्ताकी सत्कर्माभ्यासद्वारा दुष्प्रवृत्ति समूल नष्ट हो जाती है। भला, जिसे शास्त्रविहित सर्वोत्कृष्ट ब्रह्मलोकादिके साधनकर्मों से भी उपरति है, जो केवल अनन्त सच्चिदानन्द परप्रेमास्पद भगवत्स्वरूपानुसन्धान में ही निमग्न है, उसकी पाशविक दुष्कृत्यों में प्रवृत्ति कैसे हो सकती है। वार्तिककारने कहा है—राग अबोधका लिंग है। भला जिस तरुके कोटरमें अग्नि हो वहां सुकोमल पल्लव कैसे हो सकता है, जहां राग है वहां बोध कैसे संभव हो सकता है। इतना होते हुए भी यदि किन्हीं तत्त्ववेत्ताओं में रागादि दुष्प्रवृत्तियां देखी जायँ, तो वह उत्कट प्राक्तन संस्कार या दैवसे रागाभास या प्रवृत्त्याभास ही समझना चाहिए। जैसे यद्यपि शरीरपातके अनन्तर तत्त्वज्ञका विदेहकैवल्य निश्चित है, तथापि वसिष्ठादि कतिपय तत्त्ववेत्ताओंने शरीरपात के अनन्तर भी शरीरान्तर ग्रहण किया। निमि के शाप से शरीर पातके अनन्तर भी मित्रावरुणवीर्य से पुनः शरीर प्राप्त किया। ऐसे फलों में सन्देह होता है कि 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये, इत्यादि श्रुतिसिद्ध प्रारब्धक्षय के अनन्तर मुक्ति युक्त है या नहीं ? इस पर भगवान् व्यास ने सूत्र लिखा है "यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम्" अर्थात् यद्यपि सामान्य तत्त्ववेत्ताओं की देहपातके अनन्तर ही मुक्ति होती है तथापि जो आधिकारिक हैं अर्थात् जिन्हों ने विशिष्ट कर्मोपासना से कोई अधिकार प्राप्त किया है वे आधिकारिक हैं

उनको विदेहमुक्ति तबतक नहीं होगी जबतक अधिकार शेष है कारण अधिकारप्राप्तिका हेतुभूत प्रारब्ध अभी अवशिष्ट है जैसे किसी जीवने विशिष्ट कर्मोपासना से विशिष्ट पद प्राप्त किया है अब यदि मध्य में किसी तरह उसका देहपात भी हो, तौ भी उसकी मुक्ति नहीं होगी, क्योंकि उसका प्रारब्ध अभी शेष है वह चाहे एक देहसे या दस देह से समाप्त हो। जब तक समाप्त न होगा तब तक कैवल्य न हो सकेगा अतः यह सामान्य पुरुषोंकी अपेक्षा विलक्षण है, ऐसे ही यहां भी सामान्य बात यही है कि तत्त्वज्ञकी दुष्प्रवृत्ति नहीं होती, तथापि यदि कहीं देखी जाय वहां प्रबल प्राक्तनसंस्कारवश दुष्प्रवृत्याभासही समझनी चाहिए। यहां दो प्रकार के पुरुष आजकल देखे जाते हैं एक तो ऐसे जो कि तत्त्वज्ञता के अभिमान में दुराचार करते हैं, और यह कहते हैं कि तत्त्वज्ञकी प्रारब्धवश भोगों में प्रवृत्ति होते हुए भी वह उसमें लिप्त नहीं होता। ज्ञान के बल से पापका सम्बन्ध उसमें नहीं होता। यद्यपि नामाभिमानियों में भी यह प्रचार कम नहीं है, भगवन्नामादि परायण पुरुष के समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं। नाम में जितनी पाप नाश करने की शक्ति है पापी उतना पापही नहीं कर सकता है। भगवत्प्रेरणा से शास्त्रविरुद्ध भी भक्त के काम हो सकते हैं इत्यादि भावके वचनों से मनमानी शास्त्रविरुद्ध प्रवृत्तियों का प्रचार होता है, तथापि हमें यहां प्रसङ्गानुसार तत्त्वज्ञाभासों की ही बात दिखानी है। दूसरे तरह के पुरुष ऐसे हैं जो कि यहां तक साहस करते हैं कि उक्त वचनों तथा पञ्चदशीकार आदिकों के सिद्धान्तों को ही दूषित करते हैं और उन्हें दुराचारप्रचार का कारण बतलाते हैं। वस्तुतः ये दोनों ही प्रकार के पुरुष साहसी तथा खतरनाक

हैं। कारण, उक्त प्रकारसे तत्त्वज्ञानोंकी दुराचारमें प्रवृत्तिका असम्भव औत्सर्गिक है। प्रबल प्रारब्ध से क्वचित् प्रवृत्ति अस्वाभाविक अपवादमात्र है। जो लेखक जी ने कहा है कि तत्त्वज्ञ को काम या आसक्ति हो ही नहीं सकती अतः दुष्प्रवृत्ति-भी अत्यन्त असम्भव है सो अंशतः यद्यपि सत्य ही है, तथापि विश्वामित्र कण्डु प्रभृतियों में उक्त उदाहरणोंसे सिद्ध है कि कचित् आभासरूप कामादि हो सकते हैं। अन्तःकरण भी सूक्ष्म देह है। जैसे स्थूल देहगत ज्वरादि से आत्मा या आत्मज्ञानकी बाधा नहीं समझी जाती वैसे ही सूक्ष्म देह अन्तःकरणादि में काम, क्रोध आदि ज्वर होने से भी सर्वावभासक सर्वविक्रिया साक्षी आत्मा या उसके ज्ञान में बाधा नहीं समझी जाती। यद्यपि जीवन्मुक्ति के लिए आचार्योंने शम दम आदि योगरूप चिकित्सा का आदेश किया है, जिससे कि कामादि ज्वर न हों, तथापि जैसे चिकित्सा होने पर स्थूल देह नीरोग रहता है चिकित्साकी कमीमें ज्वरादिका संभव होने पर भी भासक आत्मा तथा उसका बोध अविकृत होता है, ठीक वैसे ही योगरूप चिकित्साकी न्यूनता से यदि अन्तःकरण ज्वराक्रान्त हो जाय, तो भी बुद्धि विकार भासक आत्मा तथा उसके ज्ञान में कमी वेशी नहीं होती वस्तुतः जिसे परिपूर्ण अनन्त चिदानन्द का साक्षात्कार हुआ है उसकी दृष्टि में कार्यकारणसंघात तथा उसकी सत्प्रवृत्ति या दुष्प्रवृत्ति तथा निवृत्ति अत्यन्त मिथ्या हैं। जैसे दर्पण में प्रतिबिम्ब तथा उसकी चेष्टायें असत् हैं वैसे ही बोधस्वरूप आत्मा में दृश्य संघातादि प्रपञ्च तथा उसकी चेष्टायें असत् हैं। जैसे जपाकुसुमके सान्निध्यसे स्वच्छ स्फटिकमें लौहित्यावभास होता है, ठीक वैसे ही

निर्व्यापार आत्मा में व्यापारवान् बुद्ध्यादिसंघात के सांनिध्य से व्यापारवत्ता की प्रतीति होती है। तथा बुद्ध्यादिसंघात की निर्व्यापारताकी प्रतीति होती है। स्वतः निर्व्यापार आत्मामें संघातकी निर्व्यापारतासे निर्व्यापारता की प्रतीति तथा सव्यापारतासे सव्यापारताकी प्रतीति दोनों ही भ्रान्ति है। जो बुद्ध्यादिके निर्दुष्ट होने पर आत्मा को निर्दुष्ट मानता है एवं बुद्ध्यादिके दुष्ट होने पर दुष्ट मानता है वह अज्ञ ही है कारण, प्रवृत्ति-निवृत्ति तथा दोष तद्भाव ये सभी अविद्याभूमि में ही हैं। इसी भ्रान्ति निवारणके लिए आचार्यने 'न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि' 'सन्तु कामादयो बुद्धेः, 'विक्षेपो वा समाधिर्वा मनसः स्याद्विकारिणः' 'हत्वाऽपि स इमाँल्लोकान् न हन्ति, 'सर्वथा वर्तमानोऽपि' इत्यदि वचनों से यह सूचित किया है कि चाहे बुद्ध्यादि संघात की शास्त्रीय प्रवृत्ति हो चाहे अशास्त्रीय प्रवृत्ति हो वा सर्वथा अप्रवृत्ति हो, आत्माका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। अतः तद्रूपतत्ववेत्ताका विकास या ह्रास कुछ नहीं हो सकता। न कर्मणा वर्द्धते नो कनीयान् न केनचन कर्मणाऽस्य लोको मीयते कारण यह है कि इस तरह स्पष्ट अनात्म व्यापारसे आत्माकी सम्बन्धशून्यताकी सिद्धि न की जायगी, तब तो यावत्प्रारब्ध देहादिके कुछ-न-कुछ व्यापार अवश्यक होंगे। उनसे यदि आत्माको दूषित या भूषित माना जायगा तब तो कर्तृत्वादि भ्रान्ति मिटेगी ही नहीं। अतः इससे आचार्यों की दुराचार-प्रवृत्तिकी अनुमति समझना नितान्त अनभिज्ञता है। श्रीमद्विद्यारण्यजी का तात्पर्य ज्ञानी के रागादि दोषके समर्थन में नहीं है किन्तु ब्रह्मज्ञानकी निष्ठाको दृढ करने में ही है। अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति—इस भगवद्वाक्यके अ

सार अज्ञान, अश्रद्धा, संशय, यह प्राणीके परम पुरुषार्थ से प्रच्युति के हेतु हैं, भगवत्तत्वके ज्ञान तथा उसमें श्रद्धा होने एवं संशय राहित्यके लिए ही समस्त वेदादि सच्छास्त्रों का उपदेश है यदि किसी को सौभाग्यवश प्रयत्नातिशयसे श्रवणादि द्वारा तत्वसाक्षात्कार हो भी गया तो भी अश्रद्धा तथा संशयादिके कारण वह व्यर्थ हो जायगा जैसे तुष्टि दोष प्राणिकल्याण का प्रतिवन्धक है याने पूर्ण रूपसे तत्वका साक्षात्कार न होने पर भी संतोष होना दोष है तथा अतत्वमें तत्वबुद्धि दूषण ही है, भ्रमवश किसी पुरुषको ज्ञानी होने की बुद्धि हो सकती है पद सभी प्रतिवन्धक ही है वैसे ही ज्ञान होने पर भी अनवस्थिति दोष होता है अर्थात् उसमें अश्रद्धा संशयादि दोष से निष्ठा नहीं होती इसी वास्ते भगवानने भी।

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
सबुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्।
न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति ॥

इत्यादि वचनों से देहेन्द्रिय मनो बुद्धि आदि की सात्विकी राजसी तामसी चेष्टाओं के भाव अभाव में आत्माको निर्विकार कहा है अर्थात् प्रायः ऐसी स्थिति देखी जाती है कि जब साधकको शान्ति दान्ति उपरति आदि सात्विक भावों की प्राप्ति दशामें वह अपने को शान्त स्वरूप निष्ठ ज्ञानी मानने लगता है और राजस तामस भावोंकी व्यक्तिमें अपने को अशान्त चञ्चल अज्ञानी मानने लगता है ऐसी स्थितिमें कूटस्थ एकरस आत्मस्वरूप कार्य स्थिति ही नहीं हुई यानी कभी आत्माको कूटस्थ कभी चञ्चल कहा वेदवाक्यों से भगवत्स्वरूपसाक्षात्कार होने पर भी असंभावना विपरीतभावना से स्वफलसंपादन में असमर्थ होता है, इसी

वास्ते विचार द्वारा संशयादिनिवृत्तिका प्रयत्न किया जाता है सं
शारीरिककारने कहा है कि जैसे राजाने निर्दोप चक्षुसे मच्छु
प्रत्यक्ष देख लिया तब भी मच्छु के शत्रुओं द्वारा प्राप्त मच्छु मर
पिशाच होगया है और जङ्गलों में घूमता रहता है—ऐसी विपर
भावना से यह मच्छु ही है ऐसा विश्वास नहीं करता इसी त
निर्दोप वेदान्त प्रमाण से निर्दुष्ट प्रत्यक् चिदानन्दघन का बोध हो
पर भी अनेक प्रकारकी असंभावना तथा विपरीतभावनाओं से
बोध निरर्थक ही रहता है इसी वास्ते जैसे अन्य असंभावना आ
का निराकरण किया जाता है वैसे ही संघात के दूपणों से आ
को दूपित उसके भूपणों से भूपित मानना यह भी तत्वसाक्षात्का
र का प्रतिबन्धक ही है क्योंकि इस से आत्मज्ञानमें संभावना
जाती है वार्तिकसार में आचार्य्यचरणों ने इस असंभावना के
करने का प्रयत्न किया है कोई कह सकता है कि जब तक कुछ
राग है तब तक मुझे तत्वका साक्षात्कार हुआ यह कैसे विश्वास कि
जाय, उसके प्रति आचार्य्य का कहना है कि तत्वसाक्षात्कार य
ठीक २ तुम्हें हो चुका है तो उस कादाचित्क रागमात्र के हो जाने
साक्षात्कार पर अविश्वास करो किन्तु उसे नष्ट करने
तीव्र प्रयत्न ही करो क्योंकि केवल साक्षात्कार पर अविश्वास
अश्रद्धा मात्र से तो रागादिदोप नष्ट नहीं होते, उनका नाश तो वि
दोप दर्शन तथा आत्म निष्ठा से ही होसकता है। यदि कहा जाय
रागी अपने आत्मस्वरूपसाक्षात्कार पर कैसे विश्वास करे,
इस पर कहना यही है कि ठीक है जो आत्मा को रागी मानता
वह कदापि तत्वविन् नहीं है तत्वविन् तो वही है जो राग
दृश्यप्रपञ्च के निर्विकार प्रकाश को स्वात्मरूप से निःसंदेह अनु

करता है यदि रागादि जड अन्तःकरण के विकार या धर्म हैं तो सर्वावभासक निर्विकार आत्मा में कोई भी दूषण नहीं हुआ, साक्षात्कार का स्वरूप तो केवल रागादिदोषविवर्जित निर्विकार आत्मा की स्फूर्ति ही है। यदि यह ठीक अनुभव में आता है तब संदेह त्याग कर विचार साक्षात्कार विश्वास पूर्वक निष्ठा करो यदि कहो कि आत्मा तो बोध के पहले भी रागादिरहित ही था—तो ठीक ही है ऐसा बोध ही शास्त्रसम्मत बोध है, इसी वास्ते।

प्रकाशं च प्रवृत्तिञ्च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति॥

अभिज्ञ प्रकाशसत्व या सात्विक भावों तथा प्रवृत्ति यानि रज या राजस भावों एवं मोह—यानि तम तामस भावों में से न किन्हीं में द्वेष करते हैं न किन्हीं की अपेक्षा करते हैं।

यदि ऐसा बोध नहीं है तब श्रुति से जानना चाहिए। यदि कहो कि फिर ज्ञान से क्या सिद्ध हुआ तो इसका उत्तर यही है कि अनन्त चैतन्य के असत्व तथा अभान का आपादक आवरण दूर हुआ—यदि कहो कि ज्ञान से कुछ विशेषता आत्मा में नहीं हुई तो यह बात इष्ट ही है, यदि कहो चित्तमें कुछ विशेपता नहीं हुई सो भी ठीक नहीं क्योंकि बोधरूप विशेपता चित्त में हुई ही—यदि कहो कि राग तो नहीं नष्ट हुवा तो इतना ही क्यों संकल्पादि भी तो सर्वथा नहीं नष्ट हुए यह भी शंका कर सकते हैं क्योंकि 'कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धा अश्रद्धा ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव' काम संकल्प संदेह श्रद्धा अश्रद्धा लज्जा बुद्धि भय यह सभी समान ही कोटि में हैं यदि इनमें से ज्ञानी के श्रद्धा बुद्धि लज्जा संकल्प यह नहीं नष्ट हुए तब यदि काम हो गया तो भी ज्ञान न होने में कोई हेतु नहीं

होसकता, यदि ज्ञानी का भी उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शि के अनुसार कुछ व्यवहार होता है तब तो यह नहीं कहा जा सक कि उसे लज्जा श्रद्धा बुद्धि संकल्प नहीं होते, क्योंकि विना इन कोई भी शुद्ध व्यवहार ही नहीं होते, यदि इनके होने पर भी ज्ञा का न होना नहीं समझा जाता तो कादाचित्करागमात्र से भी ज्ञा का न होना मत समझो और उस पर अश्रद्धा न करो किन्तु दो दर्शन का अभ्यास करो, यदि कहा जाय कि ब्रह्म दर्शन से ही दो दर्शन भी हो ही गया सो ठीक नहीं है क्योंकि ज्ञान अपने वि का ही प्रकाश करता है अतः ब्रह्मज्ञान ब्रह्म का ही प्रकाश सकता है विपयदोप का नहीं। यदि कहो कि परमानन्द स्वरूप होने पर वैपयिक सुखों की सदोपता भी विज्ञान हो जाती है इसमें राग असंभव है सो भी नहीं नहि लब्धगजेनापि राज्ञा स्त्यज्यते क्वचित् हाथी की सवारी प्राप्त करके भी राजा अश्व नहीं त्यागता—हाँ यदि रोगदोपादियुक्त अश्व है ऐसा दोप हो तब अवश्य अश्व को त्यागता है, इसी तरह ब्रह्मानन्द प्राप्त कर भी विपयानन्द की उपेक्षा नहीं होगी यदि वि में दोपदर्शन होगा तभी उसकी उपेक्षा हो सकती है। कहा जाय कि विपय मिथ्यात्व बुद्धि विना अद्वितीय ब्रह्म नहीं हो सकती यह ठीक है परन्तु जैसे पित्तदूपितरसना वाले पु को गुड की तिक्तता पर विश्वास न होने हुये भी गुड़-त्याग क पड़ता है तथा ऐन्द्रजालिक कौतुकों को रुचि पूर्वक मिथ्या स मता हुवा भी देखना बनता है। वैसे मिथ्यात्व निश्चय होने पर विपयों में राग हो सकता है। यदि कहो कि फिर मिथ्या ही जन्म अनिवार्य्य होगा परन्तु यह ठीक नहीं, कारण जन्मका हेतु अ

तथा मुक्तिका हेतु ज्ञान है, यदि ज्ञानसे अज्ञान नष्ट हो चुका तब जन्मका कोई हेतु नहीं रहा, अतः रागनाश के लिए सौन्दर्य्य विषय दोष के लिए ही सचेष्ट रहना चाहिए, यदि कहो कि आप इतने राग प्रयत्न से क्या रागका समर्थन करना चाहते हैं, सो ठीक नहीं, इस पर आचार्य्य कहते हैं कि नहीं हमारा रागके समर्थन में तात्पर्य्य नहीं है। किन्तु केवल आपकी ब्रह्मनिष्ठा का प्रतिबन्धकभूत जो अश्रद्धा है केवल उसीके निवारणमें हमारा तात्पर्य्य है। जैसे कोई वृश्चिकसे भयभीत होकर सर्पके मुखमें निपतित होकर मरनेको हो तो उसे सर्पसे बचाना आवश्यक है, यदि वृश्चिक की व्यथा सहन कर भी जीवित रहे तो भी सह्य ही है—

"वृश्चिकादपसर्पन् यः सद्यः सर्पेण मार्यते।
सोढ्वापि वृश्चिकोत्तन्नं दुःखं जीवत्यसौ नरः॥"

यद्यपि बोधके पहले ही विषयदोषदर्शन से रागका अभाव हो जाता है। तथापि यदि दुरदृष्टवश रागादि हो तो उसके निराकरण के ही लिए प्रयत्न करना चाहिए, आत्मज्ञान पर अविश्वास या अश्रद्धा नहीं करनी चाहिए क्योंकि अश्रद्धा विनाश का हेतु है। "अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।"
जो लेखक का यह कहना है कि तत्त्ववेत्ता से पाप बनता ही नहीं, यह भ्रम है। यदि तत्त्ववेत्तासे पाप न बन सके तो ज्ञानोत्तर पापका असंश्लेप सहस्रों श्रुतियों एवं सूत्रों द्वारा क्यों सिद्ध किया जाता? "तदधिगमे उत्तरपूर्वाघयोरश्लेप विनाशौ तद्व्यपदेशात्" "इतरस्याप्येवमसंश्लेपः पाते तु" [व्या.सू.४।१।१३-१४] तत्त्ववेत्ता के सञ्चितपापका नाश होता है कि-

नहीं, ऐसी शङ्का होनेपर सूत्रकार कहते हैं-ब्रह्मका बोध होने
उत्तर और पूर्व अघ का क्रमशः अश्लेप और विनाश होता है। अ
ब्रह्म-साक्षात्कार होनेपर पूर्वकृत् दुष्कृतका नाशहो जाता है। एवं सं
वित आगामी दुरितका सम्बन्धही नहीं होता क्योंकि "तद्व्यपदेश
श्रुति ऐसा ही कहती है—यथा "पुष्करपलाशे आपो न श्लिष्य
एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यते" जैसे पुष्करपत्रमें प्राप्त जल
भी संसर्ग नहीं होता, वैसे ही तत्त्ववेत्ता में कृत पापकर्मका सम्ब
नहीं होता।' 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि' तथा तत्त्ववेत्ताके
पाप क्षीण हो जाते हैं। ऐसे ही पुण्यके विषय में भी समझ
चाहिये। विद्यमान के ही संश्लेपकी संभावना है, अतः श्लेपा
कहा है। फलतः सिद्ध हुआ कि तत्त्ववेत्ताओं से भी प्रबल प्रारब्ध
पाप बन सकता है, तभी 'हत्वाऽपि स इमाँल्लोकान्' इत्य
उक्तियां हैं। तथा पूर्वोक्त याज्ञवल्क्यादि कर्तृक पापों के उदाहरण
इसके सिवा जैसे तत्त्ववेत्ताओं से लोकसंग्रह के लिए श्रौत स्मार्त
बन सकते हैं, वैसे क्वचित् निषिद्ध भी कर्म हो सकते हैं, क्योंकि
हेतुभूतकर्तृत्वादि द्वैतकी प्रारब्धवश अनुवृत्ति होती है। किम्वा
तत्त्वज्ञविष्णु भगवान् आदिके पालन, सृजन, संहार कृत्यों में प्र
होती है, वैसे ही तत्त्वज्ञानीकी भी प्रवृत्ति होती है। ज्ञानी भी परमे
के समान ही होते हैं। भगवान् का कहना है-कि 'लीलयाहं यथेश्व
जो लोग कहते हैं कि ज्ञानसे अविद्यात्मक कार्यप्रपञ्च मिट ज
है फिर व्यवहार बनता ही नहीं, उनसे पूछना चाहिए कि या
ल्क्यप्रभृति तत्त्ववेत्ताओंका उपदेश, वसिष्ठका पौरोहित्य कैसे हु
'उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः' भगवान् अर्जुन

लिए कहते हैं कि तत्त्वज्ञानसम्पन्नज्ञानी तुझे उपदेश देंगे, यदि ज्ञानीको शिष्य, शास्त्र आदि द्वैतकी प्रतीति न होगी, तो उपदेश कैसे बनेगा ? अतः समस्त आस्तिक दार्शनिकोंको मानना पड़ेगा कि ज्ञानियों को भी व्यवहारावस्था में द्वैत की प्रतीति होती ही है। यद्यपि भगवत्तत्त्वज्ञान से "ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन" हे अर्जुन! ज्ञानाग्नि सभी कर्मोंको भस्म कर डालती है। इत्यादि वचनके अनुसार समस्त सञ्चित कर्म नष्ट हो जायँगे। तथापि जाति-आयु भोगका आरम्भक प्रारब्धकर्म अवशिष्ट रहता है, उसी प्रारब्ध के बल से ज्ञानीको द्वैतप्रतीति, एवं प्रवृत्तिसम्भव है। जैसे अग्निका दाहकत्व स्वभाव होते हुए भी मणि-मन्त्रौषधादि से दाहकत्वादिके प्रतिरुद्ध हो जानेपर दाह नहीं होता। वैसे ही यद्यपि ज्ञानका स्वभाव है कि अविद्या तथा तत्कार्यको सम्पूर्णरूपसे दाह कर दे, तथापि प्रारब्धरूप प्रतिबन्धक से प्रतिबद्ध होकर प्रारब्धकी स्थितिका हेतुभूत अविद्यालेश एवं तदाश्रित प्रमातृत्व, कर्तृत्व आदि व्यवहार का नाश नहीं करता, तद्व्यतिरिक्त परिपूर्ण ब्रह्म की असत्त्वापादक एवं अभावापादक मूलाविद्या, तथा सञ्चितकर्म का ही नाश करता है। विक्षेप-शक्ति यावत् प्रारब्ध रहती है, उसीसे सर्ववादि-सम्मत तत्त्वज्ञमहर्षियों के व्यवहार होते हैं।

"अनारब्धकार्ये एव तु पूर्वे तदवधेः"

[ब्या. सू. ४।१।१५] अप्रवृत्त फल जो सञ्चित पुण्य, पाप हैं, उन्हीं का ज्ञान से क्षय होता है। जो प्रवृत्तफलवाले प्रारब्ध कर्म हैं उनका ज्ञान से क्षय नहीं होता है, क्योंकि शरीरपातको ब्रह्मसम्पत्ति का अवधि श्रुति में कहा है—कि "तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये' ज्ञानी को ब्रह्मरूप विदेह कैवल्य में उतनी

ही देर है, जब तक भोगद्वारा प्रारब्ध से वह मुक्त नहीं होता, उसके बाद वह ब्रह्मसम्पन्न हो जाता है।

"भोगेन त्वितरे क्षपयित्वा सम्पद्यते" [व्या. सू. ४-१-१९] भगवान् सूत्रकार कहते हैं कि अनारब्धकार्य यानी जिनका फल... गया है, ऐसे जो पुण्यपाप हैं, उनका भोग से क्षय करके पु... तत्त्ववेत्ता ब्रह्मभावापन्न होता है। तथा च श्रुतिः—"तस्य तावदेव चि... यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये" इति, तत्त्ववेत्ता के विदेह कैवल्य... उतनी ही देर है जबतक प्रारब्ध कर्म समाप्त नहीं होता, कर्म के स... होते ही ज्ञानी व्यवहारातीत ब्रह्मरूप होकर सर्वथा द्वैतसंसर्ग... हो जाता है। यद्यपि प्रथम भी स्वरूप ज्ञान से ब्रह्म सम्पन्न... था, तथापि मिथ्याद्वैत प्रारब्धवश प्रतीत होता था। कोई ऐ... तर्क करते हैं, कि प्रारब्ध बाकी रहे तभी उसे प्रतिबन्धकता हो... है। और यदि उसे प्रतिबन्धकता सिद्ध हो, तभी तत्प्रतिबद्ध ज्ञान... प्रारब्ध स्थिति के हेतुभूत अविद्यालेश के अवशेष की सिद्धि ... इस तरह अन्योऽन्याश्रय दोष होगा। इसका उत्तर यही है... हमें "यावन्न विमोक्ष्ये" इस श्रुति, तथा सूत्र से प्रारब्ध ... का विज्ञान होता है। एवं

"भूयश्चान्ते विश्वमाया निवृत्तिः।
शास्त्रेण नश्येत् परमार्थदृष्टिः॥
कार्यक्षमन्नश्यति चापरोक्षात्।
प्रारब्धनाशात् प्रतिभासनाशः॥
एवं त्रिधा नश्यति चात्ममाया"। वाराहोपनिषद्॥

इस श्रुति से मालूम होता है कि पुनः अन्त में समस्त मा... की निवृत्ति होती है। यहां अन्ते, भूयश्च, विश्व इन शब्दों...

सूचित होता है कि ज्ञान उत्पन्न होने पर यद्यपि अविद्या निवृत्त हुई थी। परन्तु निरवशेष नहीं, किन्तु सावशेष। अन्त में अर्थात् प्रारब्ध क्षय होने पर निरवशेषतः विश्वमाया निवृत्त होती है। तर्क से भी अविद्यालेश सिद्ध होता है। यह सर्वसम्मत है कि तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति में यद्यपि पुरुषार्थ की प्रधानता है, तथापि प्रारब्ध भी कम आवश्यक नहीं है, कारण यदि देहेन्द्रिय मनो बुद्धि प्रकृति साधनों की विकलता हो, तब पुरुषार्थ बन ही नहीं सकता। इसी वास्ते मुमुक्षु ब्रह्मविद्याग्रहणकाल में, "भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः; भद्रं पश्येमाक्षभिः, श्रोत्राभ्यां भूरि विश्रवम्" इत्यादि शान्तिपाठों से श्रोत्रादिकरणों के अवैकल्य होने की प्रार्थना करता है; प्रारब्धाधीन ही सत्कुलजन्म, निर्दोषदेह, एवं तदाश्रित पुरुषार्थोपयोगीबुद्धयादिकरणग्राम प्राप्त होते हैं; तभी निर्विघ्न श्रवणादिपूर्वकतत्त्वज्ञान प्राप्त होता है। एवं प्रारब्ध तथा तदुपोद्बलितबुद्धयादि तत्त्वज्ञान के जनक हैं। अतः तत्त्वज्ञान अपने जनक का विघातक नहीं बनेगा, क्योंकि उपजीव्य विरोध होगा। मन की विक्षिप्तता या सावधानी प्रारब्ध से बहुत सम्बन्ध रखती है, यह भी अभिज्ञों से तिरोहित नहीं है, इसी वास्ते कितने पागल हो जाते हैं। अब वहाँ पुरुषार्थ कैसे तत्त्वज्ञान पैदा कर सकता है। अस्तु, इसके सिवाय बुद्धि का ही श्रवणादिजन्य परिणाम विशेष ब्रह्माकारवृत्तिरूप ही ज्ञान है। वह अपने आश्रय का साक्षात् विघातक नहीं हो सकता। यदि ज्ञान उत्पन्न होते ही समस्त दृश्य को नष्ट करता हुआ अपने आश्रय, एवं हेतुओं को भी नष्ट करेगा, तो उपजीव्य विरोध ही होगा। अतः

अपने आश्रय का विरोधी तत्त्वज्ञान नहीं होगा। तभी पू
निर्दिष्ट श्रुति-सूत्रानुसारयावत्प्रारब्धद्वैतप्रतीति, ज्ञानोपदेश
तत्त्ववेत्ताओं के व्यवहार बन सकेंगे। कुछ लोग कहते हैं कि
जैसे दण्डव्यापार बन्द हो जानेपर भी कुछ काल तक चक्रभ्रम
होता रहता है, तथा दग्धपट भी किंचित् काल वस्त्रवत् प्रतीत हो
है। वैसे ही तत्त्वज्ञान से मूलाविद्या के क्षय होनेपर भी संस्का
मात्र से तत्त्ववेत्ता के व्यवहार हो सकेंगे। जैसे रज्जुपरिज्ञा
होनेपर भी सर्पादिप्रतीतिजन्य भय-कम्पादि की अनुवृ
कुछ काल तक होती है। वैसे ही ब्रह्मसाक्षात्कार होने पर भी अज्ञा
संस्कारसे द्वैतव्यवहार हो सकेगा। यदि कहा जाय कि उपाद
भूत मूलाविद्याका ज्ञान से समूलोन्मूलन हो गया, फिर उपादान
नष्ट होने पर कार्य कैसे ठहरेगा ? प्रारब्धादि अविद्याकार्य ही
उनकी कैसे स्थिति होगी। इसका उत्तर यही है, कि जैसे नैयायिक
के मत में उपादानभूतसमवायिकारण के नष्ट होने पर भी क्षण
कार्य की स्थिति होती है। वैसे ही अविद्या नष्ट होने पर भी प्रा
रब्धादि कार्य रहेगा। नैयायिकों का कार्य स्वल्पकाल का है, अ
उसका क्षण भी स्वल्प है। वेदान्त की द्वैतकार्यप्रतीति अनन
कल्पों की है। अतः यावत्प्रारब्ध उसकी अनुवृत्ति होगी। वस्तुत
पूर्वोक्त श्रुति-सूत्र-युक्ति उदाहरणों के बल पर प्रारब्ध जन्य व्याव
हारिकद्वैतप्रपञ्चप्रतीति, तथा प्रारब्धका उपादानभूत अविद्यालेश
रहता ही है, अतः उपादान भी है ही। प्रारब्धप्रतिबद्ध ज्ञान
प्रारब्धस्थितिहेतुव्यतिरिक्त अविद्याका ही दाह किया है, अत
जैसे घटका अस्तित्व ही अपने उपादान भूत मिट्टी का अस्ति
साबित करता है, वैसे ही प्रारब्ध का शेष ही प्रारब्धोपादान

अविद्यालेश का शेष साबित करता है। "भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः" इस श्रुति से भी यही सूचित होता है। प्रारब्ध शेष जो नहीं मानेंगे उनके मत में श्रुति सूत्र तथा प्रमाणसिद्ध तत्त्ववेत्ताओं के व्यवहार बाधित होंगे। तथा ज्ञानोत्तर ही तत्त्ववेत्ता के देहादि का सद्यः पात होना चाहिए। यदि कहो कि अच्छा, पूर्वोक्त कथनसे यद्यपि तत्त्ववेत्ता का व्यवहार साबित होता है, तथापि शास्त्रीय व्यवहार ही, पापादि अशास्त्रीय व्यवहार नहीं हो सकता, यह भी प्रमाणाभाव से ठीक नहीं है। यद्यपि प्रायः तत्त्ववेत्ता के शास्त्रीय ही व्यवहार होते हैं, तथापि क्वचित् संस्कार प्राबल्य से अशास्त्रीय व्यवहार भी होते हैं। कारण, उसकी प्रवृत्तिनिवृत्ति विधि या निषेध से तो होती नहीं, संस्कार से ही होती है। "न तु चोदनया चरेत्" "गुणबुद्ध्युभयातीतो निषेधान्न निवर्तते।" ये वचन ही इसमें प्रमाण हैं। गुण, बुद्धि से वह न प्रवृत्त हो, न निषेधबुद्धि से निवृत्त हो, अतः क्वचित् अशास्त्रीय प्रवृत्ति भी होती है। तत्त्वज्ञानके लिए ही गुण दोष की कल्पना की गई है।

वस्तुतस्तु "गुणदोषदृशिर्दोषो गुणस्तूभयवर्जितः" इसके अनुसार उभयराहित्य ही गुण है। तत्त्ववेत्ता के लिए वे कल्पनाएँ लोकमात्र संग्रहके लिए हो भी सकती हैं, नहीं भी। कारण, लोकसंग्रह के अधिकारी आधिकारिकपुरुष विशेष ही होते हैं, अन्यथा वसिष्ठादिकी तरह विधिनिषेधातीत शुकादि अथवा आत्रेयादिकों को भी कर्मठ ही होना चाहिए था।

इसी वास्ते "सर्वथा वर्त्तमानोऽपि" "हत्वाऽपि स इमाँल्लोकान्" "पूर्वोत्तराघयोरश्लेषविनाशौ" इत्यादि श्रुति-सूत्रों से

ज्ञानोत्तर पापादि अशास्त्रीय कृत्योंसे तत्त्ववेत्ताओं की अलि कही गई है। यदि कहें कि तत्त्ववेत्ता दूसरे की दृष्टि में ही शा कर्म भी करते हैं, अपनी दृष्टि से तो वे सदा ही ब्रह्म में ही प निष्ठित होते हैं। "पश्यन् शृण्वन् स्पृशन्" "नैव किञ्चित् क ति" "युक्तो मन्येत तत्त्ववित्" इत्यादि वचनोंसे यही सिद्ध होत कि दूसरे की दृष्टिमें ही वह व्यवहार करता है। स्वयं तो मैं नहीं करता, ऐसा ही मानता है। तब यह बात तो अशा कृत्योंमें भी है। तत्त्ववेत्ताके अशास्त्रीय कृत्य भी दूसरे की ही मेंहोते हैं, अपनी दृष्टिमें कुछ नहीं। प्रमाण तथा उदाहरण जैसे सत्कृत्य होने में हैं, वैसे ही असत्कृत्य में भी दिखा चुके जो लोग कहते हैं कि तत्त्वज्ञ के अन्तःकरण में कामादि नहीं होते वह भी प्रायः सूक्ष्मशरीर के चिकित्साभूत योगादि त तत्त्ववेत्ताओंके लिए ठीक ही है। इसी वास्ते "यदा सर्वे प्रमुच्य कामा येऽस्य हृदि स्थिताः" इत्यादि श्रुतियां चिदचिद्ग्रन्थिप्र दृढ़ कामका निर्मोक बतलाती हैं। परन्तु कचित् प्रातीतिक कामादि तत्त्वज्ञ को भी होते हैं तभी "जक्षन् क्रीडन्रममाणः" "य स पितृलोककामो भवति, सङ्कल्पादेवास्य पितरः समुप ष्ठन्ते" इत्यादि श्रुतियां अदृढ प्रातीतिक कामादिका निर्देश रही हैं। इसके सिवाय पुण्यापुण्यरूपप्रारब्ध का सुख, दुःख भोग फल है। रागास्पद, तथा द्वेषास्पद वस्तु संमिलनमें सुख, दुःख हो है। अनभिलषितकान्तादि सुखसाधनों की प्राप्ति में भी सुख देखा जाता। तथा द्वेषानास्पद से दुःख नहीं होता अत एव पिपा बुभुक्षादि शब्द इच्छार्थक की सन् प्रत्ययान्त बोले जाते हैं,

इच्छा, भोजन की इच्छा, या कामना को ही पिपासादि शब्द से कहा जाता है। जो लोग कहते हैं कि तत्त्वज्ञको सुख-दुख भी नहीं होते, दूसरे को ही उनकी प्रतीति होती है, तो यह उक्ति काम क्रोधादिके विषय में भी हो सकती है। वस्तुतस्तु सुख-दुःखका प्रत्यक्ष दूसरे को हो ही नहीं सकता। कारण, वह साक्षिवेद्य है, अतः विदेह कैवल्य के पहले पहल तत्त्ववेत्ता को भी प्रतिभासित होते हैं। जैसे जिस पुरुषने पित्तदोष रहित रसना से गुड़की मधुरिमा अनुभव कर लिया उसे ही यदि कालान्तरमें पित्तोपहतरसना से गुड़ में तिक्तता अनुभूत हो, तो भी वह थूत्कार करता हुआ भी गुड़ की तिक्तता में विश्वास नहीं करता, गुड़ को मधुर ही समझता है, उसकी तिक्तता को मिथ्या समझता है। वैसे ही शान्तचित्त से जिसने निर्द्वैत निरुपप्लवतत्त्व का अनुभव कर लिया, उसे ही यदि कालान्तर में प्रारब्धवश व्युत्थित चित्त से द्वैत, तथा कर्तृत्वादि उपद्रव अनुभूत भी हों, तो भी वह उन्हें दोषवश मिथ्या भासमान मानता है। परमार्थतः स्वरूप को अनुपद्रव ही समझता है। जो लोग कहते हैं कि "कामादि अन्तःकरणके धर्म हैं, यह वेदान्तियोंका कहना ठीक नहीं है। कारण, यावद्धर्मिस्वरूपानुवर्त्तमान को धर्म कहते हैं। कामादि ऐसे हैं नहीं, वे कभी ही होते हैं अतः विकार हैं"। यह उनके बुद्धिका विलास अवश्य विद्वन्मोदावह है। पहले तो इससे कुछ सिद्ध ही नहीं होता। मान लिया कि कामादि विकार हैं, धर्म नहीं हैं, परन्तु सुख-दुख क्या है? धर्म विकार है, यदि विकार हैं तब तो कामादि के समान यह भी तत्त्ववेत्ता को नहीं होना चाहिए। यदि इष्टापत्ति करते हैं, तो "भोगेन त्वितरे क्षपयित्वा सम्पद्यते" इत्यादि सूत्र विरोध होगा, क्योंकि यह

स्पष्ट तत्त्ववेत्ताको भोग से प्रारब्धक्षपण बताता है। यदि वि
होते हुए भी सुखादि होते हैं, तो कामादि क्यों नहीं होसकें
यदि कहो कि सुखादि धर्म हैं, तब तुम्हारी परिभाषा बिगड़ ग
कारण, सुख आदि भी कामादि की भांति कादाचित्कही हैं, य
द्धर्मिस्वरूपानुवर्त्तमान नहीं हैं। इसके सिवा—

"इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतनाधृतिः।
एतत् क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्" ॥

इस तुम्हारे समुद्धृत कामादि के विकारत्वसूचकवाक्य
सुखादि भी आ गये हैं। वस्तुतस्तु यह शास्त्र-परिचयमूलक
है। क्योंकि शास्त्रों में विकार तथा धर्म शब्द एक ही वस्तुके बोध
हैं। योग सूत्रतथा भाष्यमें धर्म, लक्षण, अवस्था, त्रिविध प
णाम तथा उसके उदाहरणका निर्देश करते हुए प्रकृति के महद
विकारात्मना परिणामको ही धर्मपरिणाम कहा है। मिट्टी का वि
कार घट ही मिट्टी का धर्म है, अतः वही मिट्टीका धर्मपरिण
है। घट का अनागतत्वादि घटरूपधर्म का लक्षण परिणाम है
अनागतत्वादिका अनागततरत्व अनागततमत्वादि अवस्थापरिणाम

"शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी" योगसूत्र।
"कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा"

इत्यादि श्रुति से वेदान्त परिभाषाकार ने भी कामको मनो
कहा है। किम्बहुना नैयायिकों ने भी आत्मा में इच्छादि
साधन मानकर इच्छादिको धर्म ही साबित किया है।

ऐसे सहस्रों स्थलोंमें विकार तथा धर्म की एकता ही कही
है। भेद सिद्ध होने से भी प्रकृत में कुछ फल नहीं, कारण

सुख, तथा कामादि के भेदक कोई धर्मत्वादि प्रयोजक नहीं हैं, अब रहा यह कि सुख दुःखादि प्रारब्ध के फल हैं काम-क्रोधादि प्रारब्ध के फल नहीं हैं। एवं पुण्यप्रारब्धानुसार है, पाप नहीं, यह भी ठीक नहीं है। कारण—

"सुखदुःखे भयक्रोधौ लाभालाभौ भवाभवौ ।
यस्य किञ्चित् तथाभूतं ननु दैवस्य कर्म तत् ॥" (वा.)
ऋषयोऽप्युग्रतपसो दैवेनाभिप्रचोदिताः ।
उत्सृज्य नियमांस्तीव्रान् भ्रश्यन्ते काममन्युभिः ॥" [वा.रा.अ.]

इन रामभद्र के वाक्यों से स्पष्ट मालूम होता है कि सुख, दुःख, भय, क्रोध आदि तथा परम तपस्वियों का भी काम-क्रोध आदि से नियम भ्रष्ट होना दैव का ही कर्म है। जिनके मत में तत्त्ववेत्ता की देहेन्द्रियादि प्रवृत्ति नहीं हो सकती, उनके मत में ज्ञान कोई रोग होगा। आचार्य कहते हैं कि तत्त्व-ज्ञान से तत्त्व की केवल स्फूर्ति होती है। द्वैत का बाध होता है। वह भी द्वैताप्रतीति को द्वैतबाध नहीं कहते, किन्तु द्वैतमिथ्यात्व निश्चय ही को बाध कहते हैं। मिथ्यात्वनिश्चय वाले भी जैसे इन्द्रजाल देखते हैं, वैसे ही तत्त्वज्ञ द्वैत देखता है, अतः द्वैतदर्शन काल में देहादि प्रवृत्ति जैसी अज्ञानी की होती है, वैसी ही ज्ञानी की भी होती है। भगवान भाष्यकार कहते हैं—"पश्वादिभिश्चावि-शेषात्" जैसे व्यवहार काल में पशुओं की देहादि द्वैताध्यास पूर्वक प्रवृत्ति होती है, वैसी तत्त्वनिष्ठों की भी व्यवहारकाल में द्वैताध्यास पूर्वक ही प्रवृत्ति होती है। इतना भेद है कि अज्ञ सत्यत्वबुद्धि से साभि-निवेश एवं साहंकार होकर व्यासक्त होता है, तत्त्वज्ञ प्रपञ्चमात्र को

दृष्ट नष्ट देखता हुआ विष्टिगृहीतवत् विपरण होकर अहंकारादि होने से आसक्त नहीं होता । "मुक्तोऽपि तावद्‌विभृयात् स्वं प्रारब्धमश्नन्नभिमानशून्यः" । इसी वास्ते कहीं कहीं ज्ञानी स्वैरचारिता का वर्णन आता है । 'जक्षन् क्रीडन्नममाणः स्त्रीभिर्वा ज्ञातिभिर्वा' श्रुतिः ।

"स्वैरं चरन्ति मुनयोऽपि न नह्यमानाः" [भा. द.]

नृपशुओं को तत्त्वज्ञों की चेष्टाओं का रहस्य न मालूम पड़ता ।

"यत्पादपद्ममकरन्दजुषां मुनीनां वर्त्मास्फुटं नृपशुभिर्ननु दुर्विभाव्यम्"

गोस्वामी जी भी तत्त्ववेत्ताके अविद्यालेश का अस्तित्व हेतुविशेषों से क्रोधादिका होना, एवं ज्ञानी-मूढ-साधारण की प्र शपरतन्त्रता दिखाते हैं । काकभुशुण्ड महर्षिलोमश के प्राथ वृत्तान्त को कहते हैं कि मेरे हठ करने पर महर्षि को क्रोध हु तब मैंने विचार किया कि क्रोध द्वैतबुद्धि के बिना नहीं हो सक द्वैत बिना अज्ञान के नहीं हो सकता—'क्रोध कि द्वैतबुद्धि बि द्वैत कि बिनु अज्ञान ।' इससे साबित हुआ कि अज्ञान से द्वैतबुद्धि, द्वैत से ही क्रोधादि होते हैं । यहां यह समझ चाहिए कि काकभुशुण्ड इस समय 'यहां न पक्षपात कुछ राख के अनुसार पक्षपात शून्य होकर तत्त्व का निरूपण करते हैं—

प्रथम यद्यपि भक्तिपक्ष हठकरि गहेहुँ ।
उत्तर प्रत्युत्तर मैं कीन्हीं मुनि उपदेश न सादर सुनेउँ'

के अनुसार प्रथम हठ किया था, इस समय स्वयं नि करते हैं कि । मुनि ब्रह्मज्ञान में परिनिष्ठित परम अनुभवी

मुझे अधिकारी समझ कर परमप्रेमास्पद निर्गुण भगवत्तत्व का उपदेश करने लगे।

मैंने सादर श्रवण न किया, किन्तु हठकर उत्तर-प्रत्युत्तर किया, इससे मुनि में कोप हुआ। सन्देह होता था कि ब्रह्मनिष्ठ अद्वैतदर्शी को क्रोध कैसे हुआ? इसपर कहते हैं–

अति संघर्ष करे जो कोई, अनल प्रकट चन्दन तें होई।
मुनु खग बहुत अवज्ञा किये, उपज क्रोध ज्ञानिहु के हिए॥'

अर्थात् जैसे शीतल चन्दन में भी संघर्षण से अग्नि पैदा होती है। वैसे ही अत्यन्त अवज्ञादि हेतुओं से ज्ञानी में भी कोपादि हो सकते हैं। अब यदि कहो कि पूर्वोक्त युक्तिका क्या उत्तर है, कि अज्ञान बिना क्रोध हो नहीं सकता, तो इसका स्पष्ट उत्तर यही है कि ज्ञानी को भी पूर्व कथनानुसार अज्ञानलेश रहता ही है। जिसके आश्रित प्रारब्ध स्थिति तथा द्वैतव्यवहार यावत्प्रारब्ध होता है। काकभुशुण्ड जी जब पूर्वयुक्ति का उत्तर बिना दिये तथा मुनि को ब्रह्मज्ञानरतमुनि विज्ञानी कहते हुए क्रोध समर्थन करते हैं।

उपजे क्रोध ज्ञानिहु के हिए।

तो स्पष्ट बात सिद्ध होती है कि प्रारब्धादिका उपादानांश अज्ञानलेश रहता है। दैव का समर्थन भी:–

'विधिकर लिखाको मेटनहारा'
'हानिलाभ जीवन मरण यश अपयश विधि हाथ'

इत्यादि–वचनों से पर्याप्त किया है। तथा ज्ञानी, मूढ सभी की सदसच्चेष्टायें भगवदधीन ही होती हैं, यह भी समर्थन किया है—

ज्ञानी मूढ न कोय, 'जेहि क्षण जस रघुपति करहिं'।
तैसो तेहि क्षण होय'।

इसी वास्ते गोस्वामी जी के मतमें ज्ञानी को भी कामादि
है, अतः उसे भी उनसे वचनेके लिए प्रभुपादपद्म समाश्रयणी

'दुहुं कहँ कामक्रोध रिपु अहहीं, पावहु ज्ञानभक्ति नहि तजहीं'
'मुक्ति निरादर भक्ति लुभाने' इत्यादि ।

जो लोग समझते हैं कि ज्ञानीको कामादि हो ही नहीं
उनका केवल गुमान है ।

'शिवविरिञ्चि कोमोहई को नर वपुरा आन' ॥ 'शिवब्रह्मादिक देखि डर

"ज्ञानी भक्त शिरोमणि त्रिभुवन पति कर यान ।
ताहिमोह माया प्रवल पामर करहिं गुमान ॥"

इन्हीं वास्ते आचार्य चरणों ने कहा है कि यावत्
ज्ञानी भी प्रवल दैवके परतन्त्र रहता है, क्योंकि परमात्मा
अदृष्ट संस्कार द्वारा ही समस्त प्राणियों का प्रवर्तन, या नि
करते हैं, अत एव कहीं कहीं पुरुष अपने अनर्थको समझता
तथा कहीं कहीं वचनेका प्रयत्न करता हुआ भी प्राक्तन सं
द्वारा अनर्थ में प्रवृत्त होता है ।

"अपथ्यसेविनश्चौरा राजदाररता अपि ।
जानन्त एव स्वानर्थमिच्छन्त्यारब्धदोषतः ॥"
"सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेः ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥"
"अवश्यं भाविनो भावाः ॥"
"अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ।
स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा ॥"
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥
'प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ।'

इत्यादि सहस्रों वचनों से जीवकी दैवपरतन्त्रता पाई जाती है। वाल्मीकीयके भी वचन हैं—

"ऐश्वर्ये वा सुविस्तीर्णे व्यसने वा सुदारुणे।
रज्ज्वेव पुरुषं बद्ध्वा कृतान्तः परकर्षति॥
विधिर्नूनमसंहार्यः प्राणिनां प्लवगोत्तम!
सौमित्रिं मां च रामं च व्यसनैः पश्य मोहितान्॥"

यह बात केवल अज्ञोंके लिए ही नहीं है किन्तु ज्ञानवान् के लिए भी बराबर लागू है, इसी वास्ते रामभद्रके पूर्वोक्त वाक्य हैं।

"ऋषयोऽप्युग्रतपसो दैवेनाभिप्रचोदिताः।
उत्सृज्य नियमांस्तीव्रान् भ्रश्यन्ते काममन्युभिः॥"

जो कोई लोग कहते हैं कि भोगमें ही जीव परतन्त्र है कर्ममें नहीं, वह भी ठीक नहीं है कारण, पूर्वोक्त वचनों से प्रकृतिपरतन्त्र चेष्टामात्र सिद्ध होती है। दैवपरतन्त्र ऋषियोंका काम क्रोधादि से नियमभ्रंश सिद्ध है। अतः कर्म में भी परतंत्रता सिद्ध है, ईश्वर ही प्राक्तन कर्मानुसार प्रवृत्त करता है।

वस्तुतः शास्त्रोंके सहस्रों वचन जीवके स्वतन्त्र कर्तृत्वका निषेध करने वाले हैं। ब्रह्ममीमांसा सूत्रकार भगवान् व्यास, तथा भाष्य-कार श्रीशङ्कराचार्य ने 'परात्तु तच्छ्रुतेः' इस सूत्रमें निर्णय किया है कि परमात्माके अधीन ही जीवका कर्तृत्व है, स्वतन्त्र नहीं है। कारण, श्रुति ऐसा ही बतलाती है,' 'एष उ एव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्य उन्निनीषते," [कौषीतकी]

'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥"
"ईशस्य हि वशे लोकः कुरुते कार्यतेऽथवा।"

इत्यादि वचनों से यही साबित होता है कि जीवकी शुभ
शुभ कर्म में प्रवृत्ति ईश्वराधीन ही है, इस पर सन्देह हुआ
किसीको शुभ कर्म में किसीको अशुभ कर्म में प्रवृत्त करते
परमेश्वर में निर्दयत्व तथा रागद्वेषादि दोषोंकी प्रसक्ति होगी। कार
बिना रागद्वेष दोष के यह नहीं हो सकता, कि किसी से सत्
कराकर उच्च लोकों में पहुंचावे, और किसीसे असत्कर्म करा
अशुभ नरकादि लोकमें पहुंचावे। इसके सिवाय परतन्त्र के
विधि-निषेध भी अनुपपन्न होंगे। लोहमयशृङ्खलासे निगडित ह
पादादि पुरुष के लिए कोई भी जलानयनादि के लिए नहीं कह
समर्थके प्रति ही नियोग संभव, एवं सार्थक होता है। अतः अस्व
न्त्र एवं असमर्थ जीवोंके लिए विधिनिषेधात्मक वेदादि श
निरर्थक होंगे। कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथाकर्त्तुं समर्थ के प्रति ही नि
हो सकता है यथा–

'अश्वेन गच्छति, पद्भ्यां गच्छति, न वा गच्छति'

ठीक ऐसे ही शास्त्र विहित करने में, अन्यथा करने में, तथा
करने में, जो स्वतन्त्र हो उसीके लिए नियोग होता है, ऐसी
का समाधान करते हुये भगवान् बादरायण सूत्र लिखते हैं–

'कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धा वैयर्थ्यादिभ्यः'

अर्थात् परमात्मा निरपेक्ष होकर जीवों से शुभाशुभ
नहीं कराता, किन्तु जीवकृत प्रयत्न की अपेक्षा से जीवों को शुभ
शुभ कर्मों में प्रवृत्त करता है। इसी वास्ते भाष्यकारने भी कहा
कि–"करोत्येव जीवःकुर्वन्तं कारयति" परमात्मपरतन्त्र हो
हुआ भी जीव करता ही है, करते हुए से ही परमात्मा कराता है
इसी वास्ते वैयाकरण कहते हैं कि "सक्रियस्य च यः प्रैषः स प्रै

विषयो णिचः" अर्थात् णिच् का विषय वही प्रैष है। जो कि व्यापार-वान् का प्रैष है। जैसे स्वयं अध्ययनमें प्रवृत्त छात्र को अध्यापक अध्ययन कराता है। ठीक वैसेही पूर्वसंस्कारानुसार शुभाशुभ कर्मों में प्रवृत्त का ही परमात्मा प्रवर्तक होता है। किं वा, पर्जन्यके समान परमात्मा जीवके कर्तृत्व में निमित्त है। जैसे पर्जन्य से ही भिन्न २ बीज, अंकुर, नाल, स्कन्ध, शाखोपशाखा, पल्लव, पुष्प, फलादि रूपमें विकसित होते हैं। परन्तु पत्र, पुष्प, फलादि की विषमता का हेतु पर्जन्य नहीं है। किन्तु बीजादिनिष्ठ विलक्षणशक्तियाँ ही विलक्षणता के हेतु हैं। वैसे ही प्राणियों के प्राक्तनसंस्कार ही विषमता के हेतु हैं। यह स्पष्ट ही देखते हैं, कि पूर्वकृत सुकृत दुष्कृत संस्कार पराधीन ही जीव की प्रवृत्ति होती है। यद्यपि कहा जा सकता है कि सच्छास्त्र, तथा सत्पुरुषों के अभ्यास एवं सङ्ग से पुरुष की सत्कार्य में प्रवृत्ति होती है। असच्छास्त्राभ्यास, तथा असत्सङ्ग से असत्कर्म में प्रवृत्ति होती है। तथापि क्यों किसी की प्रवृत्ति सत्पुरुषों तथा सच्छास्त्रों की ओर होती है और किसी की असच्छास्त्रों तथा असत्पुरुषों की ओर होती है। माना कि काम-क्रोधादि से पाप में प्रवृत्ति होती है। परन्तु क्यों किसी को काम-क्रोध होते हैं, किसी को नहीं होते। ऐसे स्थलों में हठात् पूर्व कर्म संस्कार को ही हेतु मानना पड़ेगा। पूर्वकर्मानुसार ही यदि किसी का जन्म अवैदिक, नास्तिक, व्यभिचारी, हिंसकादिकों के यहां हुआ, और उन्हीं का सङ्ग भी हुआ, तो स्वभाव से उनकी प्रवृत्ति दुष्कृत्यों ही में होगी। वैदिकों तथा आस्तिकों का सङ्ग, एवं सदाचारादि में प्रवृत्ति उनके लिये अत्यन्त असम्भव है।

जिन देशों में ईश्वर या धर्म का प्रचार ही नहीं है। वहां

उत्पन्नप्राणियों की कैसे सदाचार में प्रवृत्ति हो सकती है। हाँ य
बात दूसरी है, कि अकस्मात् किसी के कोई प्राक्तन ही सुकृत अभ्
दित हो जाँय, तो उसको वहाँ भी सहसा सत्सङ्ग में रुचिपूर्व
सदाचार में प्रवृत्ति हो जाय। परन्तु यह भी दैव का ही प्रभाव है
" यदचिन्त्यं तु तद्दैवम् "

* " असंकल्पितमेवेह यदकस्मात्प्रवर्तते ।
निवर्त्यारम्भमारब्धं ननु दैवस्य कर्म तत् ॥ "
(वा० अयो० स०

ऐसे ही जिनका पूर्वकृत सुकृतानुसार आस्तिक, तपस्वी, त
वेत्ता के यहाँ जन्म हुआ, उनकी प्रायेण सत्कृत्य में ही प्रवृत्ति होत
विपरीत सङ्ग या अकृत्य में प्रवृत्ति स्वाभाविक नहीं होती यदि हो
जाय, तो आकस्मिक उद्भूत विलक्षण दैव का ही प्रभाव है। दोनों
उदाहरण प्रह्लाद तथा अजामिल हैं। प्रह्लाद दैत्यकुल में उत्प
होकर भी दैव से ही सत्सङ्ग प्राप्त कर सदाचारी हो गये। अजामि
सदाचारी कुल में जन्म ग्रहण करने पर भी दुराचारी हो गया
इसवास्ते दैव ही प्रवृत्ति निवृत्ति का मूल कारण है। उस
काम क्रोधादि द्वारा पाप तथा सत्सङ्गादि द्वारा सत्कर्म होते ह
संस्कार, दैव, अदृष्ट यह सभी यद्यपि स्वकृतकर्म से ही उत्प
होते हैं। और कर्म भी तो देह, इन्द्रिय, मनोबुद्ध्यादि की चे
रूप क्रिया ही है जो कर्त्ता के ही अधीन होती है। तथापि त
न्यसंस्कार से कर्त्ता परतन्त्र हो जाता है। जैसे धावन (दौड़
धावक (दौड़नेवाले) के परतन्त्र है। "स्वतन्त्रः कर्त्ता" के अ
सार क्रिया में स्वतन्त्रतया विवक्षित अर्थ को ही कर्त्ता कहा ज
है। तथापि कर्ता के धावनजन्य वेगरूप संस्कार के वश कर्त्ता

होना पड़ता है। धावनजन्य वेग से कर्तृस्वातन्त्र्य का अपहरण तथा पारतन्त्र्यभाव स्पष्ट ही देखा जाता है। इसीलिये धावक को अभिमत स्थलपर रुकने के लिये प्रथम से ही गतिमान्द्यानुकूल तथा धावन विपरीत प्रयत्न करना पड़ता है। अन्यथा हठात् अभिमत स्थल से आगे बढ़ना पड़ता है।

मन भी यद्यपि कुठारादि की भांति करण होने से प्रमातृ परतन्त्र ही है। जैसे हस्त पादादि के व्यापार व्यापारयिता के अधीन हैं। वैसे ही मनका व्यापार भी व्यापारयिता प्रमाता के ही अधीन है। प्रमाता की स्वतंत्रता ही माननी चाहिये। तथापि संकल्पक्रियाजन्य वेगारूढ मन की स्वतंत्रता, प्रमाता की परतन्त्रता, प्रत्येक पुरुष को अनुभव सिद्ध है। मुमुक्षुपुरुष चाहता है कि हम मन को व्यापृत न करें, मन निर्व्यापार ही रहे, जिससे प्रत्यक् तत्त्वबोध में सुकरता हो। परन्तु मन के वह अक्षुण्यव्यापार तब तक नहीं निरुद्ध होते, जब तक असाधारण उपाय से उसके वेग को न रोका जाय। धावनादि जन्यवेग स्वल्पकालीनक्रियाजन्य है अतः उसकी निवृत्ति स्वल्पप्रयत्नजन्यहोती है। परन्तु सङ्कल्पादि जन्य वेग दीर्घकालीनक्रिया जन्य है अतः उनके वेग भी दीर्घकालीन दुष्कर यम, नियमादि अष्टाङ्गयोगानुष्ठान से निवृत्त होते हैं।

अभिप्राय यह है कि कर्मजन्यसंस्कार कर्त्ता को परतन्त्र कर देते हैं। उन्हीं संस्कारों को प्रकृति, अभ्यास, स्वभाव आदि शब्दों से कहते हैं। यह प्रारब्ध, संचित, साधारण सभी कर्मों से उत्पन्न होता है। जैसे विद्यार्थी शास्त्राभ्यास करते करते निद्रावश होकर सुप्त हो गया, कोई वृद्धा चर्खा चलाती २ सो गई, जागृत होते ही विद्यार्थी की शास्त्राभ्यास में ही प्रवृत्ति हो जाती है। मुखसे

अकस्मात् वेही सूत्र निकल पड़ते हैं। तथा वृद्धा का हाथ चर्खा चलाने लगता है। ठीक वैसे ही अशुभ कर्म करते २ मृत होकर जन्मग्रहण करते ही किंचित् सामर्थ्य प्राप्त होते ही वह प्राणी अशुभ कर्म में लग जाता है। शुभ कर्म करते २ मृत होकर जन्म ग्रहण करते ही तदनुसार सामग्री सम्पन्न होकर सत्कर्म में प्रवृत्त हो जाता है। इसी लिए भगवान् ने कहा है—

"पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।" (गीता)

(हठात् अवश होकर भी पूर्वाभ्यासवश प्रवृत्त होना पड़ता है।) अतः यह जो संदेह किया जाता है, कि जैसे लोक में चोरी का फल चोरी नहीं होता, किन्तु दण्ड आदि ही होता है, वैसे ही शुभाशुभ कर्मरूप प्रारब्ध के फल सुख-दुःख ही होने चाहिये, शुभाशुभ कर्म में प्रवृत्ति शुभाशुभ कर्म का फल नहीं हो सकता। अन्यथा अनवस्था होगी। सो निर्मूल है। कारण कि सुख-दुःख ही प्रारब्ध का फल है यह नहीं कह सकते। क्योंकि जाति, आयु तथा तदुपयोगी साधनादि सभी को प्रारब्ध का फल मानना पड़ता है। तथा परम्परया आशयरूप वासना भी प्रारब्धजन्य ही है। यद्यपि बीज साक्षात् बीज का जनक नहीं है। तथापि वृक्ष जननद्वारा बीज का भी जनक है ही। ठीक इसी प्रकार यद्यपि पूर्वकर्म साक्षात् उत्तरकर्मका जनक नहीं है, तथापि आशय जनन द्वारा पूर्वकर्म का भी जनक है ही।

इसके सिवाय पूर्व कथनानुसार स्पष्ट साक्षात् ही धावन जन्यवेग के समान संस्कार या प्रकृति कर्म से ही बनते हैं यह बात "सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि" इस

भगवद्वाक्य से सिद्ध है। अतः जैसे धावनजन्यफल ग्राम प्राप्त्यादि होते हुए भी अभीष्ट हो या न हो, वेगोत्पत्ति रूप फल भी धावनजन्य मानना ही पड़ता है। ठीक इसी तरह कर्म का फल जाति, आयु, भोग होते हुए भी संस्कार रूप भी फल कर्म से ही उत्पन्न होता है। तथा तदनुसार प्रवृत्ति भी होती है। कहीं २ और भी देखा जाता है, कि पुण्य का फल धर्मवृद्धि ही हुआ करतो है। विभीपण ने तप का फल धर्मनिष्ठा ही मांगा है। भारत के जापकोपाख्यान में जप का फल जपनिष्ठा ही मांगी गई है। तथा धर्ममेध समाधि का फल समाधि वृद्धि ही शास्त्रों को अभिमत है। इसके सिवाय "यज्ञेन विविदिषन्ति" इस श्रुति में आचार्यों ने तो सन् प्रत्ययार्थ इच्छा को ही प्रधान मानकर स्वर्गादिकामनाशून्य मुमुक्षुओंके यज्ञादि सत्कर्मोंका फल भगवत्तत्त्व की जिज्ञासा ही माना है। विवेक, वैराग्य, तीव्रमुमुक्षुत्व पूर्वक भगवत्तत्त्व ज्ञानकी उत्कट इच्छा प्रकट करके यज्ञादि सत्कर्म कृतार्थ हो जाते हैं। निर्विघ्न श्रवणादि पूर्वक तत्त्वसाक्षात्कार में यज्ञादि कर्मों का उपयोग नहीं है। परन्तु कुछ आचार्य सन् प्रत्यय का शब्दतः प्राधान्य होते हुए भी अर्थतः इच्छाकर्मभूतवेदन का ही प्राधान्य मानकर 'असिना जिघांसति' 'अश्वेन जिगमिपति' की तरह यज्ञादि का अन्वय इष्यमाण वेदन के साथ मानकर यज्ञादिका फल अभीष्ट भगवत्तत्त्व साक्षात्कार पर्य्यन्त मानते हैं। अर्थात् विवेक वैराग्यादिसहित सदाचार्यप्राप्ति, निर्विघ्न श्रवण, मनन, निदिध्यासन, तत्त्वसाक्षात्कार ये सभी यज्ञादि सत्कर्म की सहायता से ही होते हैं। और रही अनवस्था की कथा, कि पाप कर्म से पाप के संस्कार होंगे, और उन से पाप में

ही प्रवृत्ति होगी, कभी सत्कर्म तथा मुक्ति हो ही नहीं सकती, तो फिर पुरुपार्थ व्यर्थ होगा। सो यह भी ठीक नहीं है। कारण कि जैसे निरोधानुकूल व्यापार से वेगको रोका जाता है। वैसे ही शास्त्रोक्त उपाय से पाप संस्कारों के निरुद्ध होने पर अथवा अकस्मात् किसी सुकृतसंस्कारके अभ्युदय होने से पापधारा निवृत्त हो सकती है। और जो यह शंका होती है, कि यदि प्रारब्धाधीन पुण्य-पाप में प्रवृत्ति या निवृत्ति होगी, तब तो शास्त्र व्यर्थ हो जायंगे सभी पुरुप प्रारब्ध का सहारा लेकर बैठे रहेंगे पुरुपार्थ नहीं करेंगे सो भी उपहासास्पद है। क्योंकि सुख-दुःख प्राप्ति यद्यपि प्रारब्धाधीन है, यह सर्व सम्मत है। तथापि क्या सुख-दुःख प्राप्ति या परिहार के लिये नहीं प्रयत्न किया जाता? क्या अर्थ तथा कामशास्त्र का उपदेश क्यों जाता है? शास्त्रों से दुष्कर्मका दुष्परिणाम जानकर उससे भय भीत होकर दुष्कर्म से बचने के लिये चेष्टा क्यों नहीं होगी। जैसे प्रारब्धाधीन सुख-दुःख की भी प्राप्ति तथा परिहार के लिये पुरुपार्थ तथा तदुपयोगी शास्त्र सार्थक हैं। वैसेही दैवाधीन प्रवृत्ति निवृत्ति में भी पुरुपार्थ तथा शास्त्र सार्थक हैं। इसके सिवाय प्रारब्ध तो अचिन्त्य है। फलबलकल्प्य स्वभाव है। उसका प्रथम तो परिज्ञान नहीं होता कि किस उपाय से किस अभीष्ट की प्राप्ति होगी।

माना कि किसी को साम्राज्य मिलना किंचित् उपाय से सम्भव है, तो वह पहले से ही किञ्चित् प्रयत्न करता है। ऐसा नहीं हो सकता कि वह प्रारब्ध पर बैठा रहे, क्योंकि प्रारब्ध भी प्रयत्न सापेक्ष ही फल देता है।

इसी तरह यह भी कल्पना होती है, कि प्रारब्ध ही वैसी चेष्टा भी करा देता है जिससे कि उसका फल सिद्ध होवे। परमार्थतस्तु प्रारब्ध को पुरुपार्थ की अपेक्षा होती है। एवं पुरुपार्थ को प्रारब्ध की अपेक्षा होती है। परस्परसाहाय्य से ही कार्य चलता है। परन्तु इतना भेद अवश्य है; कि अर्थ और काममें तो प्रारब्ध का ही आधिपत्य है। पुरुपार्थ का तो मन्त्रित्व मात्र है। और धर्म तथा मोक्ष में पुरुपार्थ का आधिपत्य, एवं प्रारब्ध का मन्त्रित्व है। कारण कि प्रारब्धवश सम्मुख उपस्थित अथवा मुख में प्रक्षिप्त भी पक्वान्न विना किञ्चित् प्रयत्न के उपयोगी नहीं हो सकता। तथा धर्मादि में अत्यन्त प्रयत्नशील भी पुरुप प्रारब्धवश भयंकर रोगाक्रान्त तथा विक्षिप्त होने से लाचार हो जाते हैं। अर्थ और काम में प्रारब्ध की ही प्रधानता है। इसीलिये कितने ही पुरुप सहस्रों उपायों का अनुष्ठान करते हुए भी दरिद्रता की निवृत्ति तथा अभीष्ट की प्राप्ति नहीं कर सकते हैं। और कितने पुरुप तो अत्यन्त स्वल्प उपाय से ही अत्युच्च साम्राज्य पद तक प्राप्त कर लेते हैं। ऐसे स्थलों में यही समझा जाता है कि अर्थ और काम में प्रारब्ध की ही प्रधानता है। अत एव भोगादि का आरम्भक प्रारब्ध माना जाता है। इसी प्रकार धर्म तथा मोक्ष में पुरुपार्थ की प्रधानता है। अत एव कहीं सर्वविधसामग्री सम्पन्न पुरुप भी पुरुपार्थ विहीन होने के कारण धर्म तथा मोक्ष से वञ्चित रह जाते हैं। कहीं किञ्चित् सामग्री सम्पन्न भी पुरुपार्थातिशय से धर्म तथा मोक्ष से सम्पन्न हो जाते हैं। फिर भी व्यवहार कोटि में प्रारब्ध या दैव अज्ञात वस्तु है, फल होने ही पर पीछे उसकी कल्पना होती है। जब कि वह नष्ट हो जाता है, तब अन्त में उसका

ज्ञान संतोष मात्र का हेतु है। परन्तु पुरुषार्थ तो कर्त्तव्य रूप
प्रत्यक्ष संमुख उपस्थित होता है।

अतः स्पष्ट ही अर्थ काम में भी पुरुषार्थ का ही डंका ब
रहा है। तथा वही सर्वत्र सम्मान्य हो रहा है। तभी तो प्रारब्ध
अशुभ कर्म से प्राप्त रोगादि की निवृत्ति के लिये ऋषियों ने आयु
र्वेद का निर्माण किया। यदि रोग अप्राप्त हैं, तो औषधविधान
व्यर्थ है। यदि प्रारब्धप्राप्तरोगों की निवृत्ति नहीं होती, तो भी
औषध व्यर्थ है। विना प्राक्तनकर्म के दुःखहेतुभूतरोग उत्पन्न
हो ही नहीं सकते। इसी लिये माना जाता है, कि पुरुषार्थ से
प्रारब्धप्राप्तरोग की भी निवृत्ति होती है। जिनकी रोग
निवृत्ति औषधों से नहीं होती, उनके लिये जप, तप, दान, देवा
राधनादि भी विहित हैं।

सर्वज्ञकल्पमहर्षियों के निर्दिष्ट इन उपायों से भयंकर रोगों
की निवृत्ति सहस्रों स्थलों में अनुभूत भी है। इन सब बातों से
निश्चित होता है कि प्रारब्धाधीन कृत्यों में भी प्रयत्न उपयोगी
होता है। जैसे दो मेष परस्पर युद्ध करते हैं, जो दुर्बल होता है
वह पराजित होता है और जो प्रबल होता है वह निश्चय विजयी
होता है। वैसे ही वर्तमान प्रयत्न तथा प्राक्तनप्रयत्नजन्य सं
स्कारों में भी जो प्रबल होता है, वह विजयी होता है, इतर दुर्बल
प्रयत्नवाला पराजित होता है। जैसे क्षेत्र में बोया हुआ बीज
धरणी, अनिल, जल संयुक्त होकर यथाकाल अंकुरादिका उत्पा
दक होता है। तत्क्षण उत्पन्न बीज अंकुरादि का आरंभक नहीं
होता। वैसे ही यद्यपि वर्तमान जाति, आयु, भोग का आरम्भक
प्रारब्ध ही वर्तमान देह में फल देगा, नवीन उत्पन्न कर्म नहीं

अतः इन विषयोंमें प्रारब्ध का ही प्राधान्य है। तथापि जैसे प्रारब्धाधीन ही प्रारब्धभोगोपयोगी किञ्चित् चेष्टायें होती हैं। वैसे ही प्रारब्ध निवृत्ति की उपयोगी किञ्चित् चेष्टायें भी प्रारब्धाधीन हो सकती हैं। कारण कि यह तो निश्चय है ही नहीं कि प्रारब्ध से उत्पन्न रोग निवृत्त ही नहीं होंगे। अथवा उनकी निवृत्ति की चेष्टा ही नहीं होगी।

प्रत्युत सर्वज्ञमहर्षियों के उपाय विधान से जानते हैं कि प्रारब्धजन्यरोगोंकी भी निवृत्ति होती है। यदि कहा जाय कि-प्रारब्धातिरिक्त कारण से उत्पन्न रोगादि की निवृत्तिके लिये उपाय विधान है, सो भी ठीक नहीं है। कारण कि सुख-दुःखादि की प्राप्ति प्रारब्धाधीन ही है। यही शास्त्र से निश्चित सिद्धान्त है। तदनुसार ही धातु वैषम्यादि दोष भी उत्पन्न होते हैं। अन्यथा हेतु परम्परा का प्रश्न होने पर कोई उत्तर नहीं है। यदि प्रमाद को हेतु कहें, तो वह प्रमाद क्यों हुआ, यह प्रश्न अनिवार्य होगा। इसके सिवाय "अत्युग्रपुण्यपापानामिहैव फलमश्नुते" इत्यादि कथन से उत्कट पुण्य या पाप का फल इस वर्तमान जन्म में ही हो जाता है। विशेष काल की अपेक्षा नहीं होती।

जैसे कोई बीज दीर्घ कालमें फल देता है, कोई विलक्षण बीज विलक्षण धरणी, अनिल, जल संयोग से सद्यः फल दे देता है। ठीक इसी प्रकार शास्त्रीय तीव्र उपाय से शीघ्र ही फल हो जाता है। इसी लिये प्रारब्धप्राप्तविषमदोषों की भी निवृत्ति हो जाती है। एतावता "नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि" इस वचन से जो बिना भोग संपादन किये कर्म का कभी क्षय होता ही नहीं, यह कहा गया है, सो इस उक्ति को अत्यन्त प्रबल

दैव परक समझना चाहिये। क्योंकि सञ्चितकर्म का तो भा तथा ज्ञान से नाश होता है; यह सर्वसम्मत है। प्रारब्ध का पहि कही युक्तियों से क्षय हो सकता है। वेदान्तियों ने भी योगबल कुछ प्रारब्ध का क्षय माना है। अतः लौकिक वैदिक अनेक तां उपायों से भी जिसकी निवृत्ति न हो, उस तीव्रतर या तीव्रत प्रबलप्रारब्ध का बिना भोगे कभी क्षय नहीं होता है। यद्यपि रोगमात्र ही कर्मज हैं तथापि जो आयुर्वेद में दोपज, कर्मज प्रकार के रोग बताये गये हैं वे सामान्यकर्मजन्य तथा दृढ़प्र कर्मजन्य भेदसे समझने चाहिए। जैसे किसी आस्तिक युव सम्राट् की रोग निवृत्ति के लिये तीव्र लौकिक, वैदि प्रयत्न करने पर भी वैफल्य होता है। तब वहाँ फल कल्य प्रबलप्रारब्ध मानना पड़ता है। परन्तु इसका भी प ज्ञान पूर्ण उपायानुष्ठानवैफल्य के पहिले नहीं होता। इसीवा उपायोपदेश वैफल्य तथा प्रयत्न शैथिल्य नहीं होता। तात्पर्य सिद्ध हुआ कि जब प्रारब्धके साम्राज्यभूत अर्थ तथा काममें शास्त्रीय उपायके उपदेशकी सार्थकता, तथा प्रयत्नपरायणता पूर्णआदर और पूर्णप्रचार है। तब फिर पुरुषार्थ प्रध धर्म और मोक्ष में शास्त्रीय उपाय के उपदेश तथा प्रय परायणता में क्यों अनादर होगा।

यह बात दूसरी है कि अर्थ और काम में प्राणियों का र स्वभाव से ही अधिक है। इसवास्ते इधर अर्थात् अर्थ और का की ओर प्राणियों की उत्कट प्रवृत्ति होती है। परन्तु धर्म औ मोक्ष इन दोनों में ही इनके महत्त्व तथा सौष्ठवानभिज्ञ प्राणि को उत्कट राग नहीं है। अतः उधर यानी धर्म, मोक्ष की

प्रवृत्ति भी मन्द होती है अथवा नहीं होती। जिन अभिज्ञों को धर्म, मोक्ष में उत्कट वाञ्छा है उन की प्रवृत्ति भी उत्कट होती है। परन्तु जैसे प्रारब्ध को प्रयत्न अपेक्षित होता है वैसे ही प्रयत्न को दैवानुकूल्य अपेक्षित होता है। कारण कि प्रयत्न संकल्प, विचार, चिन्तन के आधीन होता है। कोई प्रयत्न चाहे कितने ही शीघ्र क्यों न हो उसके पूर्व में विचार अवश्य होगा। ये विचार या संकल्प कर्म की अपेक्षा रखते हैं; कारण कि जब संकल्पाधीन ही सत्प्रवृत्ति द्वारा प्राणी निर्मुक्त हो सकता है; तब क्यों असत्संकल्प से साक्षात् तथा असत्कर्म तत्फल द्वारा अनेकानर्थ का भागी होता है ?

यदि कहो कि प्रमाद तथा सावधानी ही असाधारण हेतु है। तो वहाँ पर भी यही प्रश्न हो सकता है कि क्यों कहीं प्रमाद, तथा कहीं सावधानी होती है। यदि कहो कि अन्तर्यामी की प्रेरणा से होती है। तो भी प्रश्न होता है कि भगवान् की विषमता में हेतु क्या है। तो घूम फिर कर कहना पड़ेगा कि जीवों के पूर्वकृत सुकृत और दुष्कृत ही अन्तर्यामी की प्रेरणा में मुख्य कारण हैं। फिर यदि कर्म पर प्रश्न किया जाय कि प्राचीन कर्म भी तो संकल्पाधीन हुए हैं। अतः अन्योन्याश्रय दोष होगा। तो इसका उत्तर यही है कि बीजांकुर के समान कर्मसंकल्प की परम्परा अनादि है। अनादि में अन्योन्याश्रय दोष नहीं होता है। अतः पूर्व-पूर्व संकल्पों से कर्म होते हैं। एवं वह संकल्प अपने २ पूर्व कर्मों से होते हैं। जैसे पूर्व २ बीज अपने २ पूर्व वृक्षों से होते हैं। तथा वे वृक्ष अपने २ पूर्व बीजों से होते हैं।

प्राणियों के अन्तःकरण में शुभाशुभकर्म संस्कार रूप से स्थिर रहते हैं। कर्म भी कायिक, वाचनिक, और मानस भेद से

तीन प्रकार के होते हैं। उनमें भी कोई कर्म पुण्य, पाप का आ-
म्भक न होकर केवल सुख, दुःख भोग का ही आरम्भक है। कोई
सुख दुःख का हेतु होता हुआ भी पुण्य पाप का भी आरम्भक
होता है। कोई केवल पुण्य पाप का ही आरम्भक होता है।
समस्त भेद विधिप्रतिषेधात्मकशास्त्र सामर्थ्य से ही श्रुतार्थ
द्वारा ज्ञात होते हैं। जिन कर्मों का विधि, निषेध के स
सम्बन्ध नहीं है वे केवल प्रारब्ध फल सुखादि के ही उपभो
हैं। उनका पुण्य तथा पाप में परिगणन नहीं होता। जिन
विधि के साथ सम्बन्ध है, ऐसे तप आदि दुःख रूप भी प्रा
दुष्कृत के फल नहीं हैं; किन्तु पुण्य हैं। एवं जिसका नि
है वह सुख रूप भी परदाररमणादि प्राक्तनसुकृत का फ
नहीं है, किन्तु पाप है।

ऐसे ही विशेष रूप से सुख दुःख के अनारम्भक भी क
विधि, निषेध के सम्बन्ध से पुण्य, पाप होते हैं। एवं विधि नि
सम्बन्धविहीन सुखदुःखारम्भक कर्म पुण्य पाप नहीं हो
सर्वविधकर्मों से संस्कार होते हैं। तथा संस्कारों से संकल्प हो
हैं। जैसे संकल्परूप मानसकर्म से संस्कार होते हैं वैसे
कायिक तथा वाचनिक कर्म से भी होते हैं। संकल्पों का उदय
सर्वप्रकार के संस्कारों से होता है। कोई संकल्प संस्कार मात्र
तथा कोई पुण्यपापरूपसंस्कार से उदित होते हैं। और पुण्यपा
रूपसंस्कार भी कोई प्रारब्ध रूप होते हैं कोई संचित रूप होते हैं

जिनका जाति, आयु, भोग रूप विपाक परमेश्वरेच्छा
आरम्भ है; वे तो प्रारब्ध रूप हैं। वे धरणी, अनिल, जल सं
क्षेत्रनिरूप्तबीजके समान फलोन्मुख होते हैं। और जो कु

लस्थ बीज के समान प्रारब्ध से प्रतिबद्ध फल संपादन में असमर्थ हैं। वे संचित कर्म हैं। इस प्रकार यद्यपि विपाकारम्भकत्व तथा तदनारम्भकत्व रूप विशेषता प्रारब्ध एवं संचित में है। तथापि संकल्प की जनकता दोनों में समान ही है। कारण कि वर्तमान देह द्वारा कृतकर्म भी वर्तमान दशा में क्रियमाण होते हैं। और पूर्ण होते ही वे संचित शब्द से कहे जाते हैं। और फिर उन संचितकर्मों से संकल्प प्रत्यक्ष सिद्ध है। क्यों कि जैसे कर्म का अभ्यास किया जाता है वैसे ही संकल्प होते हैं। संकल्प भी कोई केवल सुख दुःख रूप होते हैं। जैसे अनुकूल या प्रतिकूल मनोराज्य करना। और कोई संकल्प पुण्य, पाप रूप होते हैं; जैसे शास्त्रविहित या निषिद्ध का संकल्प करना। कोई अनुभय रूप होते हैं अर्थात् न पुण्यरूप होते हैं, और न पापरूप होते हैं। संकल्प प्रायः स्वसजातीयकर्मों से ही होते हैं। अर्थात् सत्कर्मों से सत्संकल्प होते हैं। असत्कर्मों से असत्संकल्प होते हैं। और जिस प्रकार देह से कर्म होते हैं, और कर्म से देह उत्पन्न होते हैं। ठीक उसी प्रकार संकल्परूपसूक्ष्मपुण्यपापकर्म स्थूलपुण्यपापरूप में परिणत हो जाता है। येही संकल्प यदि दृढ़ हो गये, और इनका प्रतिरोधक उपाय नहीं किया गया, तो वे स्पष्ट रूपसे पुण्य, पाप में प्रवृत्त कर देते हैं।

इस तरह जैसे लोक में भी किसी दुराचारी को दुराचार का व्यसन हो जाता है तो उस दुराचार के परिणाम में राजा से अनेक प्रकार दंडित होकर भी अभ्यास या आदत वश वह पुनः उसी दुराचार में प्रवृत्त होता है। यहां तक कि वह स्वयं भी दुर्व्यसनों से घृणा करता है। और उन्हें छोड़ने के लिये प्रयत्न भी करता

हुआ नहीं छोड़ सकता है। और महात्माओं को रोता हुआ अप दुःख सुनाता है; कि ये मेरे दुर्व्यसन प्रयत्न करने पर भी नहीं छूटते हैं। ठीक इसी प्रकार पापों के परिणाम में परमात्मा दु देते हैं, कि यह प्राणी पाप से विनिर्मुक्त हो। परन्तु पाप के प्रब संस्कारों से प्राणी पुनः पाप में प्रवृत्त होता है। स्वयं पाप से घृ करके बचने का प्रयत्न करने पर भी नहीं बचने में घोर अन देखता हुआ भी यदि नहीं बच सकता है, तब ऐसे स्थलों में फलबलकल्प्य घोर दुरदृष्ट कर्मसंस्कार या दैव मानने पड़ते हैं।

पुराणों के कितने ही स्थलों में यह आता है कि तपस्वियों लिये विघ्नस्वरूप अप्सराओं को देखकर तपस्वियों ने यथाश्रुत य धैर्य चित्त को सँभाला, परन्तु नहीं समर्थ हो सके। हां कोई धैर्य से सँभल भी जाते थे। परन्तु जो प्रयत्न करते हुए भी न सँभल सकते थे; वे पतित हो जाते थे। ऐसे २ स्थलों में प्रबल दै की कल्पना पीछे की जाती है।

प्राकृत राजा और परमेश्वर में इतना भेद है कि रा अपराध का दण्ड ही देता है, प्राणियों की चेष्टाओं का कार नहीं होता। परन्तु परमात्मा तो पाप का दण्ड भी देता है, औ पाप के संस्कारानुसार पाप में प्रवृत्त पुरुष से पाप भी कराता है क्यों कि प्राणी को हस्त पादादि की चेष्टा में राजा की सहाय अपेक्षित नहीं होती। परन्तु परमात्मा की सहायता अपेक्षित होत है। क्यों कि अन्तर्यामी की सहायता के बिना देह, इन्द्रिय, म बुद्धि, अहंकारादि अकिंचित्कर हैं। उनमें चेष्टा ही नहीं हो सकत उनमें कार्यकरण सामर्थ्य परमात्मा से ही मिलता है "यः सर्वभूतेषु तिष्ठन् सर्वभूतेभ्योऽन्तरः सर्वभूतानि यमयति

"भ्रामयन् सर्वभूतानि" "एषउ एव असाधु कर्म कारयति" जैसे मिट्टी ही घटाकारसे परिणत होती है; अतः घट की नियन्त्री मिट्टी ही है। वैसे ही समस्त शुभाशुभप्रपञ्चाकार से अभिन्न निमित्तोपादान परमात्मा ही प्रकट होता है। अतः वही सब का नियन्ता है।

"सुखं दुःखं भवोभावो भयञ्चाभयमेव च।
अहिंसा समता तुष्टिस्तपोदानं यशोऽयशः॥
भवन्ति भावा भूताना मत्त एव पृथग्विधाः॥ गी०
मत्तः स्मृति र्ज्ञानमपोहनं च॥"

यहां यदि शंका हो कि फिर पुरुषार्थ कुछ न रहा, सो ठीक नहीं है। क्यों कि पुरुषार्थ भी परमात्मा का परिणाम है। तात्पर्य यह है, कि जैसे पाप तथा उसके संस्कार एवं दुःखादि परमात्मा की सहायता से होते हैं, वैसे ही पुण्य या पाप का नाश आदि रूप पुरुषार्थ भी उसकी सहायता से होते हैं। इतना भेद है कि जैसे पति की दी हुई स्वतंत्रता का उपयोग पत्नी करती है। तथा राजदत्त स्वतन्त्रता का उपयोग कर्मचारी करते हैं। एवं विद्युत्सम्पन्न हलचल का उपयोग मशीनें करती हैं। वैसे ही परमात्मपरतन्त्र ही जीव भी परमात्मदत्त स्वतन्त्रता का उपयोग करते हैं। अतः परमात्मा ने स्वाधीनजीव को कार्यकरण संघात और उनमें कार्य करने का सामर्थ्य देकर शुभाशुभकर्म करने की स्वतन्त्रता प्रदान की है। उसे पाकर जीव अनादि परम्परा प्राप्त कर्म संस्कारों से जैसे शुभाशुभकर्मों में प्रवृत्त होता है, परमात्मा उन्हीं संस्कारों के अनुसार उससे शुभाशुभकर्म कराते हैं। और तदनुसार ही फल भी देते हैं। और परमात्मा की सहायता से कर्मानुसार ही संस्कार भी होते हैं। इस तरह से अनादिसंसार प्रवाह प्रचलित है।

अब यहाँ यह संदेह होता है, कि यदि इस तरह पाप संस्कार तथा संस्कार से पाप परम्परा ही प्रचलित रहेगी; तो फिर पुरुषार्थ को अवकाश ही नहीं रहेगा। इसका उत्तर यह है; कि किसी प्राक्तन सुकृत के फलोन्मुख होने से सावधान होकर शास्त्रीय उपायों से स्वाभाविक वेग का रोकना ही पुरुषार्थ है। जब भगवान् ने कहा कि अपनी प्रकृति के अनुरूप ही ज्ञानवान् की भी चेष्टायें होती हैं निग्रह करना निरर्थक है। तब यही संदेह हुआ कि फिर शास्त्र तथा तदुक्तपुरुषार्थ का विषय क्या है ? इसका उत्तर देते हुए—

'इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
न तयोर्वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥

इत्यादि वाक्यों से भगवान् ने पुरुषार्थ का स्थान बतलाया है। अभिप्राय यही है कि यद्यपि प्रकृति प्राणियों को परतन्त्र करके स्वानुरूपकृत्य में प्रवृत्त करती है। तथापि राग-द्वेष रूप सहकारी सहकृत ही प्रवृत्त करती है। सहकारी के बिना नहीं प्रवृत्त कर सकती। जैसे मिट्टी से घट बनता है, परन्तु जल सहकारी है जल के बिना मिट्टी से घट नहीं बन सकता। इसीप्रकार प्रकृति भी प्रवृत्तिमें कारण है।

देखते ही हैं कि सिंह की हिंसा प्रकृति है। उसी प्रकृति या तत्संस्कारवश उसकी हिंसा में प्रवृति होती है। परन्तु जिनके प्रति द्वेष नहीं होता, ऐसे अपने बच्चों की हिंसा में नहीं प्रवृत्त होता। स्तेय (चोरी) की प्रकृति भी रागास्पद के ही अपहरण में पुरुष को प्रवृत्त करती है। रागानास्पद के अपहरण में नहीं प्रवृत्त करती। इससे सिद्ध हुआ कि स्वभाव, प्रकृति, अदृष्ट, या दैव ये सभी राग द्वेष पूर्वक ही प्राणियों को शुभाशुभकर्मों में प्रवृत्त करते हैं।

अतः सावधानी से इन राग, द्वेष रूप सहकारियों का विघटन कर देना ही प्रथमपुरुषार्थ का मुख्य विषय है। इसलिये सहकारी विहीन प्रकृति अकिञ्चित्करी हो जाती है।

अब रहा यह कि सावधानी कैसे हो, कारण कि राग द्वेष भी तो प्रकृति के ही अनुसार हैं। यह पीछे आप ही सिद्ध कर आये हैं। चाहे मिथ्याज्ञान से ही रागादिदोष मानो तो मिथ्याज्ञान भी स्वाभाविक ही है ? इसका उत्तर यही है कि प्राणी को अपने कल्याण की ओर सदा स्वाभाविक रुचि होती है। जब दुराचार में अशान्ति, एवं तज्जन्यभयङ्करदुःख का अनुभव करते २ प्राणी उद्विग्न हो जाते हैं, तब विचार से सत्कर्म की ओर प्रवृत्त होते हैं। किम्वा जैसे मन्त्रादि में विश्वास न करने वाले भी प्राणी वृश्चिक सर्पादि दंशन = जन्यघोरसंताप से संतप्त होकर संताप निवृत्ति के लिये लोकानुसार प्रवृत्त होते हैं। क्योंकि अत्यन्त व्यथित अपनी व्यथा निवृत्ति की उत्कट अभिलाषा वाले को या अत्यन्त लोभी को तर्क वितर्क का अवकाश नहीं रहता है। वे लोक की बातें सुन कर सोचते हैं कि जब अन्यान्य उपाय सफल नहीं हुए, तो अच्छा मन्त्रादि लोकोक्तोपाय को भी करके देख लो, ऐसा समझ कर प्रवृत्त हो जाते हैं। और यदि मन्त्रादि के प्रयोग करने पर उनकी व्यथा दूर हो गई, तो उसी दिन से उनका मंत्रों में विश्वास भी हो जाता है। इसी तरह शत्रुवध या पुत्रप्राप्ति का उत्कट अभिलाषुक स्वाभाविक प्रवाह पतित पुरुष भी यदि लौकिक अन्वय–व्यतिरेकादियुक्तिसिद्ध उपायों से स्वाभिलषित तत्त्व की प्राप्ति न कर सके, और साथही उत्कट द्वेष एवं राग करके अस्वस्थ हैं। तब दैवात् शास्त्रज्ञ द्वारा शास्त्र की बातें सुनकर उनकी शास्त्रीय उपायों में

प्रवृत्ति हो जाती है। यदि कर्तृक्रियावैगुण्यरहित उपाय सम्प
हो जाने से अभीष्ट सिद्ध हुआ, तब उनका शास्त्रों में पूर्ण विश्वा
हो जाता है और शनैः २ शास्त्रीय प्रवृत्तिसंस्कार का चक्र च
पड़ता है। इस तरह मातृ-पितृशतादपि परमहितैषी वेदा
सच्छास्त्रों की कृपा से जैसे कण्टक से कण्टक का उद्धार होता है। वै
ही स्वाभाविक रागद्वेषादि से ही रागद्वेषादि की निवृत्ति हो जाती

'शिष्यते हितमुपदिश्यतेऽनेनेति शास्त्रम्'

इस व्युत्पत्ति से ज्ञात होता है कि अकारण करुण भगवा
शास्त्रों द्वारा सभी प्राणियों को अनर्थहेतुभूत कर्मों से बचा
तथा सत्कर्मों में प्रवृत्तकर निःश्रेयस प्राप्त कराना चाहते हैं
कारण कि जीव उनके अंश होने से उनके स्वाभाविक प्रेम
आस्पद हैं। परन्तु जब देखते हैं कि यह अदीर्घदर्शी अबोध
हमारे शास्त्रों की आज्ञा नहीं मानते हैं; तो फिर उन्हीं जीवों
स्वाभाविक प्रेमास्पद कुपथ्यका ही उपदेश कर कुपथ्य को छुड़ाते हैं
जैसे कोई चिकित्सक (वैद्य) किसी अबोध बालकको उसके प्रि
कुपथ्यरूपमें ही औषधिका प्रदान करता है—ठीक उसी प्रका
शास्त्रों द्वारा परम कारुणिक भगवान् भी अनेक उपद्रवों से व्या
लौकिक उपायों को छुड़ाकर अलौकिक उपायों का उपदेश करते हैं

यहां तक कि जब पुरुष देखता है कि मेरा यह शत्रु अत्यन्त
प्रबल है मैं इसे नहीं मार सकता हूं; यदि मारने को प्रवृत्त हुआ
भी परन्तु उसे नहीं मार सका अथवा उलटा मैं ही मारा गया
दैवात् मैंने उसे मार भी दिया, तो उसके कुटुम्बी, भृत्य अथवा
शासकों द्वारा अवश्य मारा जाऊंगा—ऐसी परिस्थिति में शास्त्र
उसको शत्रुवध के 'निरुपप्लुत' (निर्विघ्न) श्येनादियाग

अलौकिक उपायों का उपदेश करते हैं। इसमें उनका प्रथम तो रहस्य यह है कि प्राणी स्वाभाविक क्रोध के वेग में अनेक अनर्थों से संकुलित लौकिक उपायों की प्रवृत्ति से बच जायगें।

अतः स्वाभाविक वेग के रुक जाने पर शास्त्रीय उपाय से भी (स्वयं, या शिष्टों के उपदेश से, अथवा सामग्री सञ्चय करने के कष्ट से) निवृत्त हो सकते हैं। मानलिया किसी तरह से न मानकर शत्रुवध के शास्त्रीय उपाय में प्रवृत्त भी होगया तो भी प्रथम तो पूर्वोक्त अनर्थों से बच गये। दूसरे शत्रु वधरूप पाप के साथ २ शास्त्रीय उपाय के अनुष्ठान में कुछ पुण्य भी हो गया। इसके सिवाय मुख्य प्रयोजन यह सिद्ध हुआ कि शास्त्र तथा शास्त्रीय उपाय में उसे पूर्णविश्वास हो गया। अब वह श्रद्धापूर्वक शास्त्रज्ञपुरुषों से शास्त्रों के रहस्य को समझने का पूर्ण प्रयत्न करेगा। और भूतहिंसा को भी परम अनर्थ का हेतु जानकर तथा भयभीत होकर उससे निवृत्त होगा। तथा लौकिक, पारलौकिक भिन्न २ फलों की प्राप्ति के लिये शास्त्रीय कर्मों का अनुष्ठान करता हुआ स्वाभाविक पाशविकी चेष्टाओं से बच जायगा। वह आगे चलकर यह भी समझ लेता है कि जैसे किसी वैज्ञानिक से आविष्कृत यन्त्र के निर्माण एवं संचालन की पद्धति उसी वैज्ञानिक से जानना चाहिये। अन्यथा मनमानी करने से एक छिद्र या कील की कमी बेशी होने से यन्त्र निर्माण प्रयत्न निष्फल या भयंकर हानि का हेतु होता है। इसी प्रकार शास्त्रनिर्दिष्ट फलके लिये भी जो शास्त्रीय उपाय विहित हैं, उन उपायों का अनुष्ठान शास्त्र की रीति से ही करना चाहिये।

अतः शास्त्र जिनस्वाभाविक पाशविक दुराचारों का निषेध

करते हैं उनका त्याग, तथा जिन सदाचारों का विधान करते हैं उनका समादर करने से शास्त्रोक्तफल होंगे। इस तरह वैदिक काम, कर्म, ज्ञान से स्वाभाविक काम, कर्म, ज्ञानरूप मृत्यु को पार करके तथा वैदिक काम, कर्म, ज्ञानों में भी अन्तरङ्ग कामादिकों से वहिरङ्ग २ कामादिकों का त्याग कर के सर्वान्तरङ्ग परम उत्कृष्टभगवत्प्राप्तिरूप काम तथा श्रवणादि कर्म एवं भगवत्स्वरूप ज्ञान से सभी वहिरङ्ग वैदिक कामादिकों को भी त्याग कर कृतार्थ हो जाते हैं।

अब यहां यदि कोई कहे कि सहस्रों पुरुष अपने अनेक जन्मों में घोरातिघोर दुष्कृतों में ही निरत रहते हैं; और उनके फल स्वरूप घोर संतापों का भी अनुभव करते रहते हैं। उन पुरुषों में से किन्हीं को तो शास्त्र या शास्त्रज्ञों का संबंध ही नहीं प्राप्त होता है। कुछ को कथञ्चित् संबंध संभव होते हुए भी उधर रुचि या प्रवृत्ति ही नहीं होती; और किसी की सत्पुरुष, सच्छास्त्र की ओर पूर्ण रुचि तथा प्रवृत्ति होती है। किसी का उस ओर विचार तक नहीं होता है। इसका क्या कारण है? भगवान् तो सम हैं। उनकी तो सब पर कृपा बराबर ही है। तथा उनके शास्त्र भी सब को कल्याण का उपदेश करते हैं, फिर ऐसी विषमता क्यों संसार में देखी जाती है? क्यों कोई प्रमादी होता है कोई सावधान होकर उधर प्रवृत्त होता है?

इसका एक मात्र उत्तर है कि अनादि भव परम्परा में शुभा-शुभ सर्व प्रकार के कर्म संस्कार विद्यमान रहते हैं। वेही देश काल्लानुकूल निमित्तपाकर समुद्भूत होते हैं। अतः स्वानुकूल सामग्री प्राप्त करके समुद्भूत कर्मसंस्काररूपदैव के ही आधीन

प्रमाद या सावधानी भी वनती है। तदनुसार ही भगवत्कृपा तथा शास्त्र का भी उपयोग होता है। इसी लिये कहा है कि—

"नूनं ह्यदृष्टनिष्ठोऽयमदृष्टपरमो जनः ।
अदृष्टमात्मनस्तत्त्वं यो वेद न स मुह्यति ॥" (भा०)

परन्तु वह फल होने के बाद जाना जाता है अचिन्त्य है। पता नहीं किस समय उद्भूत होता है समझ बूझकर एक ईश्वर ही उसे उद्भूत करता है। जैसे कुशूल में बहुत से बीज के भरे रहने पर भी जो बीज पीछे रखा जाता है निकालने पर प्रथम वही आता है। इसी प्रकार अन्तःकरण में अनेक संस्कार भरे होते हुए भी जो कर्म पीछे किये जाते हैं उनके ही संस्कार प्रथम उद्भूत होते हैं। अतः तदनुसार ही संकल्प और प्रवृत्तियाँ होती हैं। परन्तु मालूम नहीं कितने जन्म पीछे के संस्कार उद्भूत हो जाते हैं। उनसे चट संकल्प और कर्म की धारा बदल जाती है। तत्त्व यह है कि प्राणी जब कभी भी कल्याण के लिये किञ्चित् सत्कर्म का अनुष्ठान करता है। वह नष्ट न होकर जमा रहता है। चाहे सहस्र कल्प पहले क्यों न किया हो, कारण कि इतर कर्म तो भिन्न २ फल देकर नष्ट हो जाते हैं परन्तु जो—"तमेतमात्मानं ब्राह्मणा यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन विविदिपन्ति ।" इत्यादि श्रुति वचनों के अनुसार यज्ञ, तप, दानादि सत्कर्म भगवत्तत्व ज्ञान के लिये तथा भगवत्प्राप्ति के लिये किये गये हैं। उनका फल तो तत्त्वज्ञान ही होगा। अतः वे विना उसे संपादन किये चाहे अनन्तों कल्प तक अभिभूत रहें नष्ट नहीं होंगे। इसी लिये कहा है कि—"नहि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति" "स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्" इत्यादि।

निष्काम भाव से भगवत्प्राप्त्यर्थ थोड़ा सा भी कर्म महद्भ से रक्षा कर लेता है। अर्थात् किञ्चित् भी अवकाश पाते ही उद्भूत होकर चट प्राणी के संकल्प को बदल कर सावधान करके सत्पुरुष तथा सच्छास्त्र की ओर प्रवृत्त कर देता है।

यद्यपि बहुत से कर्म तो स्वफलभोग के उपयुक्त देहादि आरम्भ करके ही फल देते हैं तथापि सभी कर्मों की ऐसी स्थिति नहीं है। क्योंकि कुछ कर्म तो अन्य कर्म से आरब्ध शरीर में ही उद्भूत होकर अपना फल देने लगते हैं। अन्यथा ज्ञानार्थअनुष्ठित शुभकर्म, स्वारब्ध शरीर में ही ज्ञानोत्पादन करें तबतो शुभकर्मारब्ध ज्ञानी का शरीर सदा सुखी ही रहना चाहिये, रुग्ण वा दूषित नहीं होना चाहिये। परन्तु ऐसा नहीं होता। ज्ञानी का शरीर रुग्ण हो ही सकता है। अतः कर्मान्तरारब्ध देहादि में भी ज्ञानार्थ शुभकर्म उद्भूत होकर ज्ञानोत्पादन कर सकते हैं। इस प्रकार पुरुष का प्रयत्न इतना ही है कि सावधानी प्राप्त होनेपर सद्विचार तथा सत्कर्म परम्परा को निरालस्य होकर बढ़ा ले चले। जैसे पश्वादि देह या असमर्थ मनुष्य शरीर में किसी तरह भी कल्याण का पुरुषार्थ नहीं बन सकता। किन्तु दैवानुकूल्य होने से समर्थ मनुष्य शरीर में ही कल्याण का उपयोगी पुरुषार्थ बन सकता है। ऐसे ही मनुष्य शरीर मिलने पर भी असत्कर्म, तथा असत् संकल्प परम्परा के अभ्युदय काल में पुरुषार्थानुष्ठान नहीं हो सकता। किन्तु दैव बल से अर्थात् पूर्वानुष्ठित सत्कर्मजन्यसंस्कार के अभ्युदित होनेपर जब सत्संकल्प या सावधानी होती है। तभी प्रवाहप्राप्त असत्संकल्प तथा असत्कर्म के प्रवाह के रोकने का प्रयत्न किया जा सकता है। यदि पूर्वप्रवाह की अपेक्षा सत्कर्म का प्रयत्न

दुर्बल रहा तब तो व्यर्थ हो जाता है प्रवाह नहीं रुकता। यदि प्रयत्न प्रबल रहा तो प्रवाह टूट जाता है। प्राचीन प्रवाह का हेतुभूत प्रयत्न अवर्तमान है। उसका निरोधक प्रयत्न वर्तमान है। इसमें अधिकता संपादन की जा सकती है। अतीत (अवर्तमान) में अधिकता संपादन नहीं की जा सकती। ये समस्त पुरुषार्थ की ही विशेषतायें हैं। घोर दुर्व्यसन को भी प्राणी दैवानुकूल प्रयत्न करके दूर कर सकता है। कितने ही स्थलों में तो दुर्व्यसन को दोषदर्शनपूर्वक त्यागने की प्रतिज्ञा करके भी प्राणी पुनः तीव्र संस्कार वश दुर्व्यसनपंक में निमग्न हो जाते हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि वे संकल्प परम्परा को रोकने में शिथिलता रखते हैं। जिस समय संकल्प होने लगते हैं उस समय वे संकल्प रोकने में सचेष्ट इस बहाने से नहीं होते कि हमने व्यभिचारादिदुर्व्यसनत्याग की प्रतिज्ञा की है। संकल्पत्याग की तो नहीं की है। इससे क्या हानि है; होने दो; बस यह समझ कर व्यभिचारादि का चिन्तन करना नहीं छोड़ते। बस कुछ काल में वही चिन्तन दृढ़मूल होकर हठात् प्रतिज्ञा तोड़कर प्राणी को दुष्कृत में प्रवृत्त कर देता है।

अतः ऐसी दशा में यह आवश्यक होता है कि जिस दुष्कृत्य को त्याग करना हो उसके चिन्तन या संकल्प को त्याग करें। किसी प्रकार से उसका चिन्तन ही न करें। संकल्प का आक्रमण होने पर सावधानी से सत्संग या सच्छास्त्रालोचन अथवा लौकिक व्यापार में प्रवृत्त होकर उस विषयचिन्तन की ओर से अन्योन्मुख होकर संकल्प को ही फेर देवें। इस तरह पाप कर्म तथा संकल्पकी धारा को पूर्व संस्कार की सहायता से रोककर

सत्कर्म तथा सत्संकल्प की धारा चलावें। और तीव्र प्रयत्न से धारा बढ़ावें। और शीघ्र ही निष्कामकर्म उपासना पूर्वक भगवत्स्वरूपसाक्षात्कार करें। कारण तत्त्वसाक्षात्कार के पहले यदि कदाचित् किसी प्राचीन दुरदृष्ट का उदय हो गया तो फिर विपरीत कर्मसंस्कारपरम्परा प्रचलित हो जाती है। तब सुकृत संस्कारपरम्परा कुछ काल के लिये अभिभूत हो जाती है।

जैसे परमवीतरागराजर्षिभरत, चक्रवर्तित्वादि ऐश्वर्य तथा पुत्रादि त्याग कर एकान्तवास कर अनन्यमन से भगवान् की उपासना में प्रवृत्त होते हुए भी तीव्र दुरदृष्ट से मृगपोतक (हिरण के बच्चे) में आसक्त हो गये। इसी से कुछ काल के लिये सुकृत संस्कारों को दबना पड़ा। श्रीमद्भागवत में स्पष्ट लिखा है कि—मृगदारकाभासस्वारब्ध कर्म से ही राजर्षि भरत योगारम्भ से भ्रष्ट हुए। नहीं तो भला दुस्त्यज अपने हृदयाभिजात कुमार, कुमारियों को त्यागकर विजातीयमृगकुमार में क्यों आसक्त होते ? यह बात भा० पं० स्कं० ८-२६ श्लोक में लिखी है, वह यह है कि—"एवमघटमानमनोरथाकुलहृदयो मृगदारकाभासेन स्वारब्धकर्मणा योगारम्भणतो विभ्रंशितः स योगतापस भगवदाराधनलक्षणाच्च कथमितरथा जात्यन्तर एणकुणक आसंगः—साक्षान्निःश्रेयसप्रतिपक्षतया प्राक् परित्यक्तदुस्त्यजहृदयाभिजातस्येत्यादि।

ठीक इसी प्रकार दुष्कृत तत्संस्कार परम्परा को उद्भूत सत्कर्म संस्कार की सहायता से रोक कर सत्कर्म तत्संस्कार की परम्परा को चलाकर भी दुर्दैववश विघ्न उपस्थित होता है। फिर यदि प्राक्तन दुरदृष्ट से प्रबल भगवदाश्रयणादि पुरुषार्थ किया गया तो

उपस्थित विघ्न की उपशान्ति हो जाती है। परन्तु यदि पर्य्याप्त उपाय न करने से दुरदृष्ट निर्बल न हुआ तब तो पतन हो जाता है। अथवा दुरदृष्ट से अभिभूत होने के कारण ही पूर्ण मात्रा में उपाय भी नहीं किया जाता है। तात्पर्य यही है कि सर्वथा पूर्ण प्रयत्न से भगवत्प्राप्त्यादि कल्याण में निरत पुरुषों का भी जो पतन है वह केवल प्रबल दैव का ही कृत्य है।

यह दैव ज्ञानी, अज्ञानी सब पर बराबर है। हां इतना भेद है कि ज्ञानी के संचित कर्म नष्ट हो गये हैं। अतः उसके लिये दुरदृष्टवश समुत्पन्न भी दुष्कर्म मुक्ति का प्रतिबन्ध नहीं करते हैं। कारण कि ज्ञानाग्नि से सञ्चित का दाह हो जाता है। ज्ञानोत्तर भावी कर्मों का संश्लेप नहीं होता है। परन्तु अज्ञानी को कर्म संश्लेप होने के कारण जन्मान्तर ग्रहण करना पड़ता है। इसलिये अनुत्पन्नज्ञानमुमुक्षु के लिये दुरदृष्टवश समुपस्थितविघ्न से बचना ज्ञानोत्पत्ति के लिये अत्यन्त आवश्यक है। और उसी के लिये श्री भगवच्छरणागति भी परम उपयोगी है। महर्षि पतञ्जलि कहते हैं कि

"तज्जपस्तदर्थभावनम्"

"ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च"।

भगवन्नामादि मन्त्रों का जप एवं भगवत्स्वरूप चिन्तन से सर्वान्तरतमभगवत्स्वरूप साक्षात्कार हो जाता है। और सर्व-विघ्नों का अभाव भी होता है। तथा श्रीमद्भागवत में भी भगवदा-श्रित को भगवत्कृपाविशेष से विभ्रंश भयरहित बतलाया है।

'तथा न ते माधव तावकाः क्वचिद्भ्रश्यन्ति मार्गात्त्वयि बद्धसौहृदाः'भा.

'सकल विघ्न नहिं ब्यापहिं तेही। रघुपति कृपा करहिं अति जेही॥ रा.

तत्त्वज्ञ के लिये भी दुरदृष्ट से उत्पन्न दुष्प्रवृत्त्यादि से बचना जीवन्मुक्ति के लिये परमावश्यक है। इसी वास्ते पञ्चदशीकार ने तत्त्वज्ञ के यथेष्टाचरण की निन्दा करके दुरदृष्टवशप्राप्त भी वहि मूर्खता के निरोध का उपदेश किया है।

"बोधादूर्ध्वं च तद्धेयं जीवन्मुक्तिप्रसिद्धये।
कामादिक्लेशबन्धेन युक्तस्य नहि मुक्तता॥"

अर्थात् बोध के पश्चात् भी दुरदृष्ट प्राप्तकामादि तथा मनो राज्यादि का त्याग करना जीवन्मुक्त के लिये आवश्यक है।

कारण कि तत्त्व साक्षात्कारबल से मरणानन्तर भले ही कैवल्य हो जाय। परन्तु जीवनकाल में यदि दुरदृष्टवशप्राप्त कामादि का निरोध न किया जायगा तो कामादि क्लेश के विद्यमान होते हुए मुक्ति कैसी, अर्थात् नहीं हो सकती। जो कोई जन्माभावरूप मुक्ति में ही संतोष करता है वह जन्म होने पर भी स्वर्गमात्र में भी सन्तुष्ट हो सकता है। यदि कहो कि स्वर्ग तो क्षयिष्णुत्वादि दोषों से युक्त होने से हेय है। तो फिर स्वतः दोषरूपकामादि का त्याग क्यों न किया जाय।

"जीवन्मुक्तिरियं माभूत् जन्माभावे त्वहं कृती।
तर्हि जन्माऽपितेऽस्त्वेव स्वर्गमात्रात्कृती भवान्॥
क्षयातिशयदोषेण स्वर्गो हेयो यदा तदा।
स्वतो दोषतमात्मायं कामादिः किं न हीयते॥"

यदि तत्त्वसाक्षात्कार करके भी कामादि त्याग नहीं किया जायगा। तो शास्त्रविपरीत चेष्टा से यथेष्टाचरण हो जायगा।

"तत्त्वं बुद्ध्वाऽपि निःशेषं कामादीन्न जहासि चेत्।
यथेष्टाचरणं ते स्यात्कर्म शास्त्रातिलङ्घिनः॥"

यदि कहा जाय कि हो जाओ यथेष्टाचरण तो तत्त्ववेत्ता का क्या बिगड़ता है। तब आचार्य ने कहा है कि—यथेष्टाचरण में श्वान तथा तत्त्ववेत्ताओं में कुछ भेद ही न रह जायगा। कारण दोनों ही उच्छृङ्खल होंगे।

"बुद्धाऽद्वैतस्वतत्त्वस्य यथेष्टाचरणं यदि ।
शुनां तत्त्वदृशाञ्चैव को भेदोऽशुचिभक्षणे ।
विड्वराहादितुल्यत्वं माकाङ्क्षीस्तत्त्वविद्भवान् ॥"

इत्यादि श्लोकों से तत्त्वज्ञों के लिये भी जीवन्मुक्ति के लिये दैवप्राप्तकामादि दोषों के परित्याग का उपदेश किया है। जीवन्मुक्ति विवेक में योगाभ्यास को प्रारब्ध से भी प्रबल कहा है। यद्यपि प्रारब्ध-कर्म ज्ञान से भी उपजीव्य होने के कारण प्रबल है तथापि प्रारब्ध को अभिभूत करने वाला योगाभ्यास है। क्योंकि यदि प्रारब्धप्राप्तदुःखादि विक्षेप की निवृत्ति ही न हो, तब तो सर्व वृत्तिनिरोधरूपयोग का उपदेश ही व्यर्थ हो जायगा। अतः सिद्ध होता है कि प्रारब्ध से भी प्रबल योग है। जब कि पूर्व कथनानुसारप्रारब्धाधीन लौकिक अर्थ कामादि में भी पुरुषार्थ ही आदरणीय है, फिर जीवन्मुक्ति आदि के लिये तो परमपुरुषार्थ सुतराम् आदरणीय है ही, भगवदुपाश्रयण ज्ञानी के लिये भी सर्व· विघ्न से बचने का असाधारण हेतु है।

इसी वास्ते—"पायहुँ ज्ञान भक्ति नहिं तजहीं"

की रीति थी। इस तरह भगवदुपाश्रयण से भगवदनुगृहीत तत्त्ववेत्ता समाधि का अभ्यास करके कामादि समस्त दोषों को दूर कर निर्विघ्न प्रत्यक्चैतन्यानन्दघन में परिनिष्ठित होते हैं। ऐसे तत्त्ववेत्ताओं के लक्षण स्थितप्रज्ञ, गुणातीत, या भक्तों के स्वरूप

वर्णन प्रसंग में किया गया है। क्योंकि इनके जो लक्षण साधक को वे ही अनुष्ठेय होकर तत्त्वज्ञान के साधन हैं।

जो तत्त्वसाक्षात्कार करके भी दुरदृष्टजन्यदोषों का निराकरण प्रयत्न की शिथिलता के कारण नहीं कर सके। अथवा पूर्ण करते हुए भी प्राक्तनप्रबल दुर्दैव को अभिभूत न कर सके तो साधक के उपयोगी लक्षणों से युक्त नहीं हैं। अतः उनका शा ने वर्णन भी कम किया है। एवं जो तत्त्व में अत्यन्त परिनिष्ठित हुए भी किसी फलबलकल्प्य अनिवार्य दैव से कभी काम या के वश होते हैं। उनके वे आभासमात्रदोप यद्यपि व्याजरूप से शा में वर्णित हैं, तथापि साधकोंके अनुपयोगी होने से अनुष्ठेय नहीं कारण कि शिष्टपुरुषों के शास्त्रानुसार आचरण ही उपादेय विपरीत उपादेय नहीं होते।

इसीलिये तत्त्वनिष्ठ आचार्य शिष्य को उपदेश देकर यह कहते हैं कि 'यानि मेऽनवद्यानि तानि त्वयोपास्यानि इतराणि' (तै०) अर्थात् जो मेरे दोप रहित शास्त्रीय आचरण वे ही तुम्हारे उपास्य हैं। परन्तु जो सावद्य (सदोप) आचरण उन्हें तुम कभी आचरण में नहीं लाना। यद्यपि दुराचारी लो सर्वशास्त्रों में से स्वानुकूल तात्पर्य निकालकर शास्त्रों का दुरुप करते हैं। ऐसे ही यहाँ भी यह अनर्थ निकाल सकते हैं कि तत्त्ववेत्ता को भी कामादि हो सकते हैं। अतः हमारे में यदि कामादि हों तो हमारे ज्ञान में क्या हानि हो सकती है? तथापि शा का इसमें कोई दोप नहीं है किन्तु यह समस्त दोप प्राणिबुद्धि है। सत्पुरुप तो यह समझते हैं कि भाई परमेश्वर की माया प्रबल व अचिन्त्य है। जब ज्ञानी, भक्त शिरोमणियों को भी दु

वश माया का प्रभाव व्याप्त हो जाता है तो साधारण ज्ञानी का यह गुमान व्यर्थ है कि हम तत्त्ववेत्ता हैं। तत्ववेत्तासे काम या दुराचार हो ही नहीं सकते इत्यादि।

इस प्रकार माया की अचिन्त्य प्रबलता को समझ कर अभिज्ञ, आस्तिक पुरुष ज्ञानाभिमानको छोड़कर मायापति भगवान्का ही समाश्रयण करके भगवन्निर्दिष्ट मार्ग का सावधान होकर अवलम्बन करते हैं। इस प्रकार सत्पुरुष तो महानुभावों की दुष्प्रवृत्तियों से भी शिक्षाग्रहण करते हैं।



विद्याऽविद्यादि तत्त्व मीमांसा।

संस्कृत साहित्यमें वेद अनुश्रव कहे जाते हैं। अनुश्रव
भाव—'गुरोर्मुखादनुश्रूयते,—इस व्युत्पत्ति के अनुसार यह हो
है कि ये गुरुमुख से ही केवल सुने जाते हैं। इससे दो बातें सि
होती हैं—एक तो यह कि वेद किसी से निर्मित नहीं हैं। कि
केवल गुरुपरम्परा से सुने ही जाते हैं, अतः अविच्छिन्नसम्
दायपरम्परा से प्राप्त तथा अप्रमित कर्तृक होने से अपौरुषेय हैं
उनमें पुरुष दोषके शङ्कारूपकलंक का स्पर्श नहीं है, अतः वे स्व
प्रमाण हैं। दूसरी बात यह कि वेदोंका अध्ययन तथा तदर्थज्ञा
आचार्य से ही करना चाहिये। मनमाना अध्ययन तथा अ
ज्ञान नहीं करना चाहिए। इस बातको श्रुति स्वयं कहती है कि
"तद्विज्ञानार्थं गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं
अवधारणार्थक एव शब्दका तात्पर्य यह है कि व्याकरण, काव्
कोश आदि में कुशलपुरुष भी स्वयं वेद के अर्थज्ञान में प्रवृत्त
हो, किन्तु उसके विज्ञान के लिए समित्पाणि होकर श्रोत्रिय ब्र
निष्ट की शरण में जाय, कारण की अनेक दोषदूषितप्राणी वि
रीत अर्थ समझकर लाभ के बदले अपना सर्वस्व नाश कर सकत
है। और वेद भगवान् को भी भय होता है कि अल्पश्रुतपु
मुझपर प्रहार करेगा। अर्थात्—कुछका कुछ अर्थ करेगा—"बिभेत्य
ल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति"। वेदव्याख्याकारआचार्य मीमांसा
कल्प, निरुक्त आदि के आधार पर सम्प्रदाय के अनुरोध

व्याख्या लिखते हैं। आजकल साहसवश कुछ लोग व्याकरणादिज्ञानशून्य स्वयंभू आचार्य्य पूर्वाचार्यों के शास्त्रीयव्याख्यानों का खण्डन कर अटकलपच्चू मनगढन्त वेद व्याख्यान करते हैं।

पाठकवृन्द ! आज हम आपके सामने एक ऐसा ही विषय उपस्थित करते हैं। आप जानते होंगे—"शङ्करः शङ्करः साक्षात्" के अनुसार भगवान् शंकरने ही श्रीशङ्कराचार्यरूप में अवतीर्ण होकर उपनिषदादिप्रस्थानत्रयी का यथोचितव्याख्यान कर दुरुग्राह्य वेदार्थ को प्रकाशित करने की कृपा की है।

'कल्याण' के वेदान्ताङ्क में श्री जयदयालगोयनका ने विद्या, अविद्या तथा संभूति और असम्भूति शीर्षक लेख में एक विचित्र मनगढन्त अर्थ करके भगवान् शङ्कराचार्य के अर्थ का निराकरण किया है। यद्यपि लेखक ने अपनी छद्ममयी नीति से प्रारम्भ में अपने को वेदार्थज्ञान के अयोग्य और उक्त लेखका अनधिकारी बतलाया है, तथापि परमाचार्यकृतव्याख्यान को निःसार तथा स्वकृत व्याख्या को महत्त्वपूर्ण कह कर छद्मका भी अन्त में भंडाफोड़ कर ही दिया है। यहाँ हम पहले उनके व्याख्यान का सार लिखते हुए उसकी समालोचना करते हैं।

जिन मन्त्रों की आपने व्याख्या की है वे मन्त्र ये हैं—"अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते, ततो भूय इव तमो य उ विद्यायां रताः अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते। अन्धतमः प्रविशन्ति ये सम्भूतिमुपासते।" लेखक का कहना है कि "बड़े बड़े विद्वानों ने इन मन्त्रों के जो अर्थ किये हैं वे संगत नहीं मालूम पड़ते। इसीलिये इसका विचार यथाबुद्धि किया जाता है। 'सुतरां पहले विद्या तथा अविद्या का विचार करना चाहिए। यहां विद्या का

अर्थ ब्रह्मविद्या समझना चाहिये। जो लोग अविद्या में निरत हैं अर्थात सकामकर्म करते हैं, वे अन्धतम में प्रविष्ट होते हैं। और उससे भी अधिक तम में वे जाते हैं जो विद्या में रत हैं अर्थात् ब्रह्मविद्या में अभिमान करने वाले हैं। ब्रह्मविद्या के अभिमान में पाप करने वाले हैं। क्यों कि यदि कर्म का फल स्वर्गादि अन्धन्तम माना जाय, तो उससे भी अन्धतम शूकर कूकर आदि योनियां ही हो सकती हैं और वे विद्या का फल नहीं हो सकती हैं। इसलिए रता इस पद का अर्थ अभिमानी ही है। इसी वास्ते आगे विद्या तथा अविद्या को जानने वाले के लिये मृत्युतरण और अमृतत्वप्राप्ति फल कहा है। अर्थात् जो भगवदर्थनिष्काम कर्म करता है तथा श्रवण, मनन, और निदिध्यासन करके ब्रह्मविद्या को ठीक २ जानता है, वह स्वर्गादि रूप मृत्यु को तैर कर मोक्ष पालेता है इत्यादि।"

हम लेखक से यह पूछते हैं कि आपने विद्या पद से ब्रह्मविद्या कैसे समझी? देवविद्यारूपउपासना ही विद्या पद से क्यों न मान ली जाय, 'य एवं वेद' इत्यादि स्थलों में सभी आचार्य 'वेद' का 'उपास्ते' अर्थ करते हैं। समस्तवैष्णव आचार्य भी विद्या का अर्थ उपासना ही करते हैं। "विद्यया देवलोकः" यहां पर भी विद्या का अर्थ उपासना ही होता है, फिर यहाँ विद्या पद से ब्रह्मविद्या क्यों मानी जाय? यद्यपि मीमांसकों के पास तो यहां बहुत कोटियाँ उपस्थित हो सकती हैं परन्तु मनगढ़न्त व्याख्याताओं के पास क्या युक्ति हो सकती है। इसके सिवा अविद्या का अर्थ कर्म ही क्यों लिया गया। यदि कहें कि अविद्याकार्य होने से कर्म ही अविद्या पद से लिया जाता है तो वह ठीक नहीं है।

कारण कि वैदिक कर्म भी यदि अविद्या है तो वैदिक उपासना भी अविद्या क्यों नहीं ? ज्ञान भी यदि उत्पन्न होने वाला है तब तो वह भी अविद्या का कार्य होने से अविद्या ही है। यदि नित्य है तब तो उसके लिये साधन व्यर्थ हों। एवं यदि तरु बीज शब्द से नहीं कहा जाता तो कर्म अविद्या पद से कैसे कहा गया ? इसके सिवा आप के नवीन सिद्धान्त में अविद्या का भी क्या अर्थ है। यदि पूर्वाचार्यों की उक्तियों की परवाह न करें, तो अविद्या विद्या का अभाव मात्र है, उससे कर्मरूप भावकार्य कैसे उत्पन्न हो सकता है। एवं स्वर्गादि को अन्धतम भी किस आधार पर कहते हैं, कारण वह भी ज्योति स्वरूप है। तथा "विद्यायां रताः" का अर्थ विद्या में अभिमान तो किसी तरह भी युक्तिसंगत हो ही नहीं सकता। यदि कुछ भी व्याकरण का बोध होता तो 'रताः' का 'अभिमान' अर्थ करने में कुछ तो संकोच मालूम पड़ता। क्या "सर्वभूतहिते रताः" "आत्म रति" इत्यादि स्थलों में क्रीडार्थक 'रमु' धातु का अभिमान अर्थ लिया जाता है ? यदि नहीं तो यहाँ कैसे अभिमान अर्थ हो गया ? जो लेखक ने 'विद्या' और 'अविद्या' का स्वाभिमत अर्थ होने में यह कहा है, क्योंकि (यहां पर 'विद्या' और 'अविद्या' के तत्त्वको न समझने वालों की निन्दा करके इन दोनों के तत्त्व समझने वाले की प्रशंसा की गई है। और इनके तत्त्व समझने का फल मृत्यु से तैर कर अमृतत्त्व की प्राप्ति बतलाई है। ऐसा फल उपर्युक्त अर्थ मानने पर ही हो सकता है।) परन्तु लेखक ने यह हेतु कहाँ से निकाला इसका पता नहीं है। मन्त्र में तो अविद्या के उपासक तथा विद्या में रतकी निन्दा पाई जाती है। तथा 'विद्या' और 'अविद्या' का साथ अनुष्ठान करने वालेकी मृत्युतरणपूर्वक अमृतत्त्वप्राप्ति

बतलाई गई है। 'विद्या' और 'अविद्या' के तत्त्वज्ञकी प्रशंसाका तो स्पर्श भी मन्त्र में नहीं है। सम्भव है कि 'यस्तद्वेद' के 'वेद' शब्द से लेखक को विभ्रम हुआ हो, परन्तु पूर्वमंत्रों के अनुसार यहाँ 'वेद' का अर्थ उपासना ही है अन्यथा पूर्वापरविरोध अनिवार्य होगा। निन्दा अविद्याउपासक एवं विद्यानिरत की; तथा प्रशंसा अविद्या तथा विद्याके तत्त्वज्ञकी इसका कुछ सम्बन्ध ही नहीं है। यदि कहें पहले 'अविद्यामुपासते' का अर्थ कर्मतत्त्वको न जानना ही है, तो इसका उत्तर यही है कि उच्छृङ्खल पन्थियों की दृष्टि में भैंस भी उपासते का अर्थ हो सकता है, इसका उत्तर हमारे पास क्या है? कोई भी समझदार 'येऽविद्यामुपासते' 'विद्यायां रताः' का यही अर्थ कर सकता है कि जो अविद्या की उपासना अर्थात् अनुष्ठान करते हैं जो विद्या में रत हैं अर्थात् तन्निष्ठ हैं। इन पदों से विद्या-अविद्या के तत्त्व को न जानने वाला यह कैसे अर्थ निकला। जब पूर्वार्द्ध का तत्त्व न जानने वाला यह अर्थ नहीं हुआ तब 'यस्तद्वेदोभयं सह' का अर्थ दोनों के तत्त्वों का जानने वाला कैसे हुआ? क्योंकि तुम्हारे कथनानुसार पहले अविद्यादि के तत्त्वज्ञानरहित की निन्दा की गई है। तथा अन्त में उनके तत्त्वज्ञों की प्रशंसा की गई है, सो पूर्वार्द्ध बिगड़ने से उत्तरार्द्ध भी बिगड़ गया। इसके सिवाय प्रशंसा किन शब्दों का अर्थ है? अतः स्पष्ट अर्थ यही है कि पूर्वकथनानुसार 'वेद' का 'उपास्ते' ही अर्थ है। तात्पर्य यही है कि विद्या और अविद्या के पृथक् पृथक् उपासना की निन्दा द्वारा ही दोनों के एक साथ अनुष्ठान की प्रशंसा करके दोनों के एक साथ अनुष्ठान करने वाले के लिये मृत्युतरणपूर्वक अमृतत्वप्राप्तिरूपफल बतलाया गया है।

जिसके मत में विद्यादि के तत्त्वज्ञान से ही अमृतत्त्व फल प्राप्त होगा उसके यहाँ फिर अनुष्ठान की आवश्यकता ही नहीं सिद्ध होती है। यदि कहें कि ज्ञान के बाद अनुष्ठान भी अपेक्षित है तो अनुष्ठान किस शब्द का अर्थ है, 'वेद' का अर्थ तो आपने तत्त्व ज्ञान कर लिया अनुष्ठान अर्थ अब कैसे निकलेगा ?

अब श्रीमच्छङ्करभगवत्पूज्यपाद के व्याख्यान का अभिप्राय दिखाया जाता है। 'वे अदर्शनात्मक तम में प्रविष्ट होते हैं जो अविद्या पदवाच्य कर्म की उपासना करते हैं, और वे उनसे भी अधिक अदर्शनात्मक तम में प्रविष्ट होते हैं जो विद्या अर्थात् हिरण्यगर्भोपासना में निरत हैं। जैसे अधर्मपद से धर्म विरुद्ध निषिद्ध कृत्य ही गृहीत होता है धर्माभाव मात्र गृहीत नहीं होता, वैसेही यहाँ पर्य्युदासार्थक नञ् से शास्त्रविहितविद्या से अन्य शास्त्र विहितकर्म ही अविद्या पदवाच्य हैं। यहाँ विद्या और अविद्या के समुच्चय विधान के लिए एक एक की निन्दा है। कर्म तथा ब्रह्म विद्या का विरोध होने से समुच्चय नहीं हो सकता, कारण कि द्वैतबुद्धिपूर्वककर्म का अद्वैतबुद्धिरूपविद्या के साथ विरोध प्रत्यक्ष है। इसी वास्ते विद्यापद से ब्रह्म विद्या नहीं गृहीत है किन्तु कार्य ब्रह्म की उपासनारूप अपरविद्या ही गृहीत है। लेखकर्ता ने जो कहा है 'यदि रताः' का अर्थ विद्या में अभिमान न माना जाय तो विद्या में रत को कर्मरत से भी अधिक तम की प्राप्ति होना कैसे सम्भव होगा ? यदि अविद्या (कर्म) में रत को अन्धतम की प्राप्ति होगी तब तो विद्यारत को उससे भी अधिक अन्धतम श्व शूकर आदि योनियों की प्राप्ति होगी, परन्तु यह सब विरुद्ध है। अतः अविद्या के तत्त्व को न जानकर सकाम भाव से अनु-

ष्ठान करने वाले को अनित्य स्वर्गादि प्राप्त होता है, यह अविद्या रत को अन्धतम की प्राप्ति है।

तथा विद्या के तत्त्व को न जान कर विद्या का अभिमान कर यथेष्टाचरण करने वाले को स्वर्गादि से भी अपकृष्ट श्व शूकर आदि योनिरूप, घोरअन्धतम की प्राप्ति होती है। जो लोग विद्या तथा अविद्या को तत्त्वतः जान कर अनुष्ठान करते हैं वे अविद्या से मृत्यु को तैर कर विद्या से अमृत अर्थात् मोक्ष को प्राप्त कर लेते हैं इत्यादि" यह कथन सूचन करता है कि वे वेदार्थनिर्णायक पूर्वोत्तरमीमांसादिशास्त्रों से परिचित नहीं हैं। सिद्धान्ततः विद्या अविद्या समुच्चय विधि के अर्थवादभूतवचनों का तात्पर्य केवल समुच्चय की स्तुति में ही है। "विधिना त्वेकवाक्यत्वात्स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः' (विधि के साथ एकवाक्यता होने से अर्थवाद विधियों की स्तुति के लिए होते हैं)। अर्थवादवचन से प्रसिद्ध अर्थ मानान्तर से सिद्ध हो तब तो अर्थवाद अनुवादक माना जाता है। जैसे 'अग्नि र्हिमस्य भेपजम्' यहां अग्निका शीतभेषजत्व प्रत्यक्ष से ही ज्ञात है, अतः सिद्ध अर्थका द्योतक होने से वह अनुवाद है। मानान्तर अविरुद्ध अर्थ का द्योतन करने वाले अर्थवाद को भूतार्थवाद कहते हैं, अर्थात् महातात्पर्य्य, विधि की स्तुति में होते हुए अवान्तरतात्पर्य्यस्वार्थ में भी रखने वाले अर्थवाद को भूतार्थवाद कहते हैं, जैसे 'वज्रहस्तः पुरन्दरः' यहां इन्द्र का वज्रहस्तत्व आगमातिरिक्त मान से अज्ञात है, अतः अज्ञातज्ञापक होने से यह भूतार्थवाद है। एवं मानान्तर विरुद्ध अर्थ का प्रतिपादन करनेवाले अर्थवाद को गुणवाद कहते हैं। अर्थात् उसका स्वार्थ में कुछ भी तात्पर्य नहीं होता। यहाँ 'विद्ययादेवलोकः

'कर्मणा पितृलोकः' इत्यादि श्रुति से कर्मनिष्ठ एवं उपासनानिष्ठ को पितृदेवलोक आदि की प्राप्ति श्रुत है, अतः यह अर्थवाद मानान्तर विरुद्ध होने से गुणवाद है। 'नहि निन्दा निन्द्यं निन्दितुम्प्रवर्त्तते अपि तु विधेयं स्तोतुम्' निन्दा का तात्पर्य निन्दा में नहीं अपि तु केवल विधेय की स्तुति में ही है ऐसी मीमांसकों की रूढि है। तथा जो केवल अविद्यापदवाच्यकर्म में निरत हैं; उनकी निन्दा विद्या के समुच्चय के लिए की गई है। विद्याफल की अपेक्षा अविद्याफल स्वर्गादि की प्राप्ति निकृष्ट है। अतः उसे अन्धन्तम की प्राप्ति कह कर उसकी निन्दा की गई है। तथा जो केवल विद्या में निरत हैं; वर्णाश्रमानुसार श्रौत-स्मार्तधर्म का अनुष्ठान नहीं करते, उन्हें अविद्यारतों से भी अधिक अन्धतम की प्राप्ति कही गई है, कारण कि अविद्यापदवाच्य श्रौत-स्मार्तधर्मनिरत तो विद्याफल से ही वञ्चित रहेंगे, अविद्याफलस्वर्गादि के भागी तो अवश्य होंगे। परन्तु कर्म धर्म छोड़ कर विद्या में रत तो कर्म और उपासना दोनों के ही फल से वञ्चित रहेगा, कारण कि उपासना लक्ष्यप्राप्तकर लक्ष्याकाराकारितवृत्ति का दीर्घकाल निरन्तर सत्कारपूर्वक आवर्त्तन को कहते हैं, सो चित्त की चंचलता की निवृत्ति के विना असम्भव है। चित्त की चञ्चलता की निवृत्ति देहेन्द्रिय चाञ्चल्य की निवृत्ति के विना असम्भव है। बहिरङ्ग चाञ्चल्य निवृत्ति के विना अन्तरङ्गमानसचाञ्चल्य निवृत्ति असम्भव है। देह तथा इन्द्रियों का चाञ्चल्य श्रौत-स्मार्तधर्मानुष्ठान के विना नहीं मिट सकता। इसी वास्ते कहा है कि अविद्या से मृत्यु अर्थात् स्वाभाविककामकर्म लक्षणमृत्यु को तैर कर विद्या से अमृतत्त्व को प्राप्त होना है। 'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा'। फिर भी जैसे सुरापान आदि की निन्दा

उनके त्याग के लिए की जाती है वैसे यहाँ अविद्या की निन्दा उसके त्याग के लिए नहीं किन्तु दोनों का एक साथ अनुष्ठान करने के लिए ही है । ठीक ऐसे ही छान्दोग्योपनिषत् में वैश्वानरविद्या में भी द्युलोकादिरूपमूर्धादि एक एक अङ्ग के उपासक की "मूर्धा ते व्यपतिष्यत" इत्यादि से निन्दा की गई है । परन्तु वहीं एक एक अङ्ग की उपासनाओं का फल भी बतलाया गया है, ये दोनों बातें विरुद्ध हैं । यदि एक अङ्ग की उपासना निन्दित है, तो उसका फल कैसा ? कारण कि जो कृत्य निन्दित तथा अनिष्ट के हेतु हैं। उनका शुभ फल नहीं होता । तथा यदि वह एकाङ्गोपासना शुभ फल का हेतु है, तो उससे मूर्धपातरूप अनिष्ट फल बतला कर उसकी निन्दा नहीं करनी चाहिये । कारण कि स्वर्गादिशुभफल के हेतु अग्निहोत्रादि की निन्दा नहीं होती है । इसी वास्ते मूर्धपातादिसूचक अर्थवादवचन स्वार्थपर्यवसायी शुभफल प्राप्ति सूचकप्रमाण से विरुद्ध होने से केवल गुणवाद माने जाते हैं। अर्थात् उनका तात्पर्य एक एक अङ्ग की उपासना की निन्दा में नहीं है किन्तु सप्ताङ्ग उपासना के समुच्चय में ही है । इसी वास्ते एकाङ्गोपासना की निन्दा की गई है । औपमन्यवकं त्वमात्मानमुपास्से इति दिवमेव भगवो राजन्निति होवाचैष वै सुतेजा आत्मा वैश्वानरोयं त्वमात्मानमुपास्से तस्मात्तव सुत प्रसुतमासुतं कुले दृश्यते । अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमत्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवात्मानं वैश्वानरमुपास्ते मूर्धा त्वेष आत्मन इति होवाच मूर्धा ते व्यपतिष्यद् यन्मां नागमिष्य इति ।" यहां सुतेजा दिवलोक रूपवैश्वानरकी उपासना का फल कहकर मूर्धपातका भय दिखलाया है सप्ताङ्ग के समुच्चय के लिये । ठीक इसी उदा-

हरण के अनुसार ही प्रकृतविद्या तथा अविद्या के समुच्चय के लिए ही निन्दा है। अर्थवादों का स्वार्थ में तात्पर्य नहीं है। इसी वास्ते यहां पर कर्मठ एवं उपासकों को अन्धन्तम या घोर अन्धन्तम की प्राप्ति का समर्थन आवश्यक नहीं है। जैसे पूर्वोक्तवैश्वानरोपासना में मूर्धपात का समर्थन आवश्यक नहीं है। अतः इसके लिए 'विद्यायां रताः' का विद्या में अभिमानकर दुराचारादि करना इत्यादि मनमानी अक्षरासम्बद्ध खींचातानी की आवश्यकता ही नहीं है। विद्या पद से ब्रह्मविद्या नहीं विवक्षित है; यह बात पूर्व में कह चुके हैं। हाँ यदि कोई मीमांसक कहे कि प्रकरणवश विद्या का अर्थ ब्रह्मविद्या है कारण 'ईशावास्यम्' इस मन्त्र से ब्रह्मविद्या, प्रकृत है; प्रकृतपरित्यागपूर्वक अप्रकृतप्रक्रिया ठीक नहीं है, तो इसका उत्तर यह है कि प्रकरण की अपेक्षा श्रुति बलवती होती है; अतः वह प्रकरण की बाधिका होती है। श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरण–स्थान–समाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्' । (जै० सू०) से साबित है कि लिङ्ग प्रकरण आदि सबसे श्रुति प्रबल होती है। यद्यपि प्रकरण से मालूम होता है कि विद्या से ब्रह्मविद्या ही गृहीत है और उसी से कर्म का समुच्चय विधित्सित है; परन्तु 'तमेतमात्मानं ब्राह्मणाः यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन विविदिषन्ति' उस श्रुति से यज्ञादि कर्मों का ब्रह्मवेदन की इच्छा के प्रति या इष्यमाण वेदन के प्रति साधन रूप से अन्वय है। यदि कर्म ब्रह्म विविदिषा या इष्यमाण ब्रह्म वेदन का साधन है, तो इसका ब्रह्मविद्या के साथ समुच्चय कैसे हो सकता है ? कारण कि जहाँ साधनसाध्यभाव या प्रत्येक का स्वतन्त्र फल न होना निश्चित होता है वहाँ अङ्गाङ्गिभाव

होता है; समुच्चय नहीं होता। जैसे व्रीहिप्रोक्षण तथा दर्शपौर्णमास का अङ्गाङ्गिभाव माना जाता है समुच्चय नहीं माना जाता। अङ्गाङ्गि भाव शून्य स्वतन्त्र फल वाले दो कृत्यों का समुच्चय हुआ करता है। अतः कर्मों का ब्रह्मविद्या के साथ समुच्चय 'यज्ञेन' इत्यादि श्रुति से विरुद्ध है। क्योंकि श्रुति कर्म को विद्या में हेतु बतलाती है अतः प्रकरण वश विद्या से ब्रह्मविद्या नहीं गृहीत हो सकती। कारण कि प्रकरण श्रुति से दुर्बल है। कर्म तथा विद्या का परस्पर विरोध होने से समुच्चय का असम्भव दिखा चुके हैं। अद्वैत ज्ञाननिष्ठ के आभास मय कर्मों में कर्तृत्व नानात्वादि का अभिनिवेश नहीं होता अतएव वे निष्फल तथा आभास मात्र हैं। वे किसी पुरुषार्थ के लिये समुचित नहीं कहे जा सकते। उपासनारूप विद्या ही यहाँ विद्या पद से विवक्षित है। उसी का कर्म के साथ समुच्चय हो सकता है। जहाँ कहीं माण्डूक्य कारिका व्याख्यादिकों में आचार्यों ने इस मन्त्र के विद्यापद में ब्रह्मविद्या भी ग्रहण की है वहाँ पर कर्म के साथ क्रम समुच्चय स्वीकार किया है। यानी प्रथम अज्ञान दशामें वही पुरुष कर्मानुष्ठान करे। अनन्तर योगारूढ़ होने पर वही ज्ञाननिष्ठ होवे इस तरह क्रमशः एक पुरुषानुष्ठेय होने के कारण क्रम समुच्चय कहा है। सम समुच्चय अर्थात् दोनों का साथ अनुष्ठान नहीं बन सकता। "विद्याञ्चाविद्यांच यस्तद्वेदोभयं सह" यहाँ पर लेखक जी कहते हैं कि "जो विद्या-अविद्या को तत्त्व से जानता है; अर्थात् कर्म को भगवदर्थ समझता है; तथा श्रवणादि से विद्या को; वह पूर्व से मृत्युतरण तथा उत्तर से अमृतत्त्व प्राप्त करता है। यह कथन तात्पर्यगन्ध सम्बन्ध शून्यता का सूचक है। भला यहां कर्म तथा

उपासना केवल अपने ज्ञान से कल्याण के हेतु होते हैं या अनुष्ठान की अपेक्षा रखते हैं ? यदि प्रथम पक्ष है तो अनुष्ठान की व्यर्थता ही है। यदि द्वितीय पक्ष है तो यहाँ 'वेद' का अर्थ 'उपास्ते' है। अर्थात् यहाँ कर्मादि का तत्त्वज्ञान नहीं विवक्षित है किन्तु कर्म तथा उपासना का साथ अनुष्ठान विवक्षित है। इससे अनुष्ठानोपयोगी ज्ञान अपने आप सिद्ध हो जायगा। कारण ज्ञान के विना अनुष्ठान ही नहीं हो सकता। अतः 'वेद का अर्थ अनुष्ठान ही है। ऐसे 'सम्भूति' का परमात्मा तथा 'असम्भूति का' देवता अर्थ करना भी अत्यन्त असम्बद्धालाप है। यदि सम्पूर्वक भूधातु का सम्यक् सत्ता अर्थ हो तो 'सम्भवोऽस्य न विद्यते" "सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत" इत्यादि स्थल में सम्भव का उत्पत्ति अर्थ ही न बने, किन्तु इन स्थलों में सम्भव-सम्भूति इत्यादि का उत्पत्ति ही अर्थ होता है। यद्यपि सम्भूति का अर्थ—सम्यक् भूतिरैश्वर्यं यस्य स सम्भूतिः, इत्यादिव्युत्पत्ति के बल से हिरण्यगर्भ लिया जा सकता है, तथापि आगे माण्डूक्य कारिका में "संभूतेरपवादाच्च सम्भवः प्रतिषिध्यते" यहां पर कहा गया है कि हिरण्यगर्भ की निन्दा से उत्पत्ति मात्रका मन्त्र ने निषेध किया है। जब प्रधान कार्य हिरण्यगर्भ का ही अपवाद है तब सामान्य कार्य का अपवाद सुतरां सिद्ध है। अतः अजातवाद ही में शास्त्र का तात्पर्य है इत्यादि। यदि आपके मत में सम्भूति का अर्थ परमात्मा है तो 'सम्भूतेरपवादाच्च' यहां सम्भूति का क्या अर्थ होगा ? क्या परमात्मा का अपवाद ? साथ ही 'सम्भूत्यां रताः' का क्या अर्थ होगा ? क्या यह कि उससे भी घोरतम नरक में वे जायंगे जो परमात्मा में निरत हैं ? यदि 'रताः' का अभिमान अर्थ

करें तो कैसे ? किसी प्रकृति प्रत्यय के बलपर या मनमानी ही ? फिर अभिमान भी तो अहंग्रहोपासना ही होती है उससे घो तम की प्राप्ति कैसे ? फिर यदि सम्भूति में रमण करनेवाले घो तम में जायँगे तबतो आत्मरत की यही दशा होगी । एवञ्च अस म्भूति से देवता ही क्यों लिए जाते हैं, असम्यक् सत्तावाले पुत्र-फल आदि भी है वेही क्यों नहीं गृहीत होते ? फिर यदि सम्भूति उपासना से देवता की उपासना विवक्षित हो तो विद्या और अविद्या से ही गतार्थता होगई, कारण कर्म से इन्द्रादि देवताओं की उपासना आ गई । विद्या से परमात्मा की उपासना इन दोनों का समुच्चय पहले मन्त्रों से हो ही गया । सम्भूति और असम्भूति शब्द से भी उसी को कहने की क्या आवश्यकता थी अतः यहां भाष्यकारकृतव्याख्यान ही युक्त है । प्रथम असम्भूति तथा सम्भूति दोनों की पृथक् पृथक् उपासनाओं की निन्दा करके समुच्चय का विधान किया गया है । असम्भूति का अर्थ अव्याकृत जगत् का मूलप्रकृतिकारण गृहीत हुआ है । 'न सम्भूति र्यस्य सा असम्भूतिः' जिसकी उत्पत्ति नहीं होती ऐसा मूल कारण ही असम्भूति है, क्योंकि वही सब का मूल है । उसका कोई मूल नहीं है, अतः उसकी उत्पत्ति नहीं होती । "मूले मूलाभावादमूलं मूलम्" [सां॰सू॰]। जो असम्भूति की उपासना करते हैं वे अन्धतम के भागी होते हैं । तथा उनसे भी अधिक अन्धतम की प्राप्ति उन्हें होती है जो सम्भूति अर्थात् हिरण्यगर्भ की उपासना करते हैं। सम्भूति=उत्पत्ति होती है जिसकी, या सम्यक् भूतिः=ऐश्वर्य है जिसका इस तरह से भी सम्भूति का हिरण्यगर्भ ही अर्थ होता है । इसके

अनन्तर समुच्चय का हेतुभूत दोनों का भिन्नफलत्व दिखाया गया है 'अन्यदाहुःसम्भवात्, इत्यादि से । यहां पर भी निन्दा में तात्पर्य बिल्कुल नहीं है केवल समुच्चयमें ही तात्पर्य है । कारण दोनों उपासनाएँ शास्त्र विहित हैं तथा दोनों ही स्वतन्त्र फल वाली हैं । अतः निन्दा प्रमाणान्तर विरुद्ध होने से गुणवाद ही है । विधि ब्राह्मण भागमें ही होता है, इसी वास्ते शतपथ के चौदहवें काण्ड में कारण तथा कार्यब्रह्मरूप हिरण्यगर्भ की उपासना बहुधा विहित है। एतावता लेखक जी का यह कथन भी निर्मूल है कि यह उपासना कहीं मिलती ही नहीं । मीमांसकों की रूढि यह है कि जहाँ अपूर्व द्रव्यदेवता देखते हैं वहाँ कर्म विधिकी कल्पना करते हैं । जैसे "आग्नेयोऽष्टाकपालो भवति ।"

यहाँ पर आग्नेययाग का विधिप्रत्यय न होने पर भी विधि की कल्पना होती है । वैसे ही उपास्यस्वरूप देखकर उपासना का विधिप्रत्यय न होने पर भी विधि की कल्पना करते हैं । पुराणों में भी अव्यक्तोपासकों को परमोत्कृष्टफल बतलाया गया है ।

"ब्रह्मा विश्वसृजो धर्मो महानव्यक्तमेव च ।
उत्तमां सात्त्विकीमेतां गतिमाहुर्मनीषिणः" ॥

यहाँ इस स्मृति में अव्यक्तप्राप्ति को ही अन्तिम सात्त्विक फल कहा गया है ।

दश मन्वन्तराणीह तिष्ठन्तीन्द्रियचिन्तकाः ।
पूर्णं शतसहस्रं तु तिष्ठन्त्यव्यक्तचिन्तकाः ॥
पुरुषं निर्गुणं प्राप्य कालसंख्या न विद्यते ।

लेखक जी ने जो कहा है कि भाष्यकारीय व्याख्यान में समुच्च में भी यदि प्रकृतिलय ही फल हुआ, तो केवल प्रकृति उपासना के फल से क्या विलक्षणता हुई। कारण कि प्रकृतिलय रूप फ यहां अन्धन्तम शब्द से विवक्षित नहीं है। वह तो केवल विद्या की भांति असम्भूति उपासना का अन्धतम फल बतला कर समुच्च के लिये केवल निन्दा की गई है। जैसे विद्या का फल अन्धन्तम शब्द विवक्षित नहीं है। तद्वत् जैसे विद्या का फल अन्धन्तम नहीं हो सक केवल निन्दा मात्र के लिये यह उक्ति है। विद्या का फल तो देवलोक ही है। वैसे ही केवल प्रकृति उपासना की निन्दा के लिए अन्धन्तम फ कहा गया है; वस्तुतः नहीं। प्रकृतिउपासना का तो परम प्रकृति सायुज्य ही है; जो कि मुक्ति के समान तथा पारलौकिक फ में सर्वोत्कृष्ट फल है। प्रकृतिलय अन्धन्तम शब्द से विवक्षित नहीं है। वह तो समुच्चय के फल रूप में प्राप्त होगा। आगे 'सम्भूतिञ्च वि नाशश्च' इत्यादि से भी दोनों का तत्त्व ज्ञान विवक्षित नहीं है किन्तु साथ उपासना विवक्षित है। विनाशपदसे कार्यरूपहिरण्य गर्भ विवक्षित है; जोकि कार्य होने से विनाशधर्मक है। 'विनाश धर्मोऽस्यास्तीति विनाशः' इस व्युत्पत्तिसे अर्श अच्से अजन्त विनाश शब्द विनाश धर्मवाले हिरण्यगर्भ का वाचक है, जोकि प्रकरणवश गृहीत होता है। उसकी उपासना से अनैश्वर्यदारिद्र्य रूप मृत्यु तैरी जाती है। कारण हिरण्यगर्भोपासना से ऐश्वर्य प्राप्ति होती है। उससे अनैश्वर्य मिट जाता है। दुःख रूप होने तथा संसारवासनाका हेतु होने से ऐश्वर्य से मृत्युरूप दारिद्र्य दूर होता है। अभिलाषा भी शान्त होती है। तदनन्तर अन

म्भूतिकी उपासना से कारण सायुज्यरूप महाफल प्राप्त होता है जिस फलके आगे बस कैवल्यही है; जैसे कर्मके साथ ही उपासनाको स्वफल संपादन में सुविधा होतीहै। वैसे ही संभूति उपासना सहित ही असंभूति उपासनाको स्वफल संपादन में सुविधा होती है। इसी वास्ते जैसे केवल विद्या में उसका फल नहीं होता वैसे केवल असंभूति उपासना से प्रकृति सायुज्य नहीं हो सकता; किन्तु संभूति उपासना से राग दुःखादि निदान दारिद्र्य को तर कर ही असंभूति से तत्सायुज्य होगा। कहा जा सकता है कि यदि संभूति उपासना से ब्रह्मलोक प्राप्त होता है और वहाँ से क्रम मुक्ति होती है, तबतो संभूतिकी उपासना से क्रमशः प्राणी मुक्त होता है। असंभूति उपासना से तो कारण में लय होना होगा। और कालान्तर में पुनः संसार अनिवार्य्य होगा। अतः उलटा असंभूतिका समुच्चय अनर्थ का हेतु हुआ। परन्तु सो कहना ठीक नहीं क्योंकि "आब्रह्मभुवनां लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन" के अनुसार कार्यब्रह्मोपासकोंका भी ब्रह्मलोक से पुनरावर्तन होता है। क्रममुक्ति दहर विद्या शाण्डिल्य विद्या आदि सेही होती है। इसी वास्ते जहां "इमं मानवमावर्त्तं नावर्त्तन्ते" इत्यादि स्थलों में भी इमं पद का निर्देश है वहाँ केवल वर्तमान मानवावर्त में ही आवृत्ति का निषेध है; अर्थात आवर्तान्तरमें उनकी आवृत्ति होती है अतः सिद्ध हुआ कि कार्य्यब्रह्मकी उपासनाकी अपेक्षा कारण ब्रह्मकी उपासना श्रेष्ठ हीहै। उसका फलभी बड़ा है। जैसे केवल कार्य्यकी उपासना नहीं किन्तु कार्य्यावच्छिन्न ब्रह्मकी ही उपासना है, वैसे ही प्रकृत्यवच्छिन्न चैतन्य की ही उपासना अव्यक्तोपासना है। उससे बहुत काल तक कारण सायुज्य के उप-

रान्त कारणानुग्रह से कारणातीत निर्गुणतत्त्वकी भी प्राप्ति क्रमशः होती है अतः कोई दोष नहीं है। समुच्चयानपेक्ष केवल ब्रह्मवि-द्याका फल निर्विशेषब्रह्मभावापत्ति ही है। जिसका सविस्तर उप-निषदों में वर्णन है। यहाँ पर लेखकने जो सूचना की है कि असम्भूति निकालने के लिये दो जगह अकारका अध्याहार करना पड़ता है, सो भी निर्मूल है। कारण, तात्पर्य से वेदों का अर्थ निकाला जाता है। वेदों में सहस्रों स्थलों में ऐसा किया जाता है। जब विनाश शब्द का तात्पर्य पूर्वयुक्ति से हिरण्यगर्भ हुआ, तब सुतरां सम्भूति के पीछे अकार छेदकर असम्भूति निकालना उचित है। कारण जिसकी सम्भूति नहीं उसका विनाश (स्वाभाविक) धर्म हुआ ही नहीं करता, क्योंकि जिसकी संभूति होती है, ऐसे कार्यका विनाशधर्म हुआ करता है। सर्वत्र भवति, उत्पद्यते, भावयति, उत्पादयति, सम्भव, उत्पत्ति, सम्भूतिः—ये सब उत्पत्त्यर्थक माने जाते हैं। अतः अगत्या विनाश शब्दसे सम्भूति ली गई है। परिशेष असम्भूति ही बची और उसके लिए अकार छेदयुक्त ही है। अवैयाकरणों को ही यह सन्देह हो सकता है। वैयाकरणों के लिये 'एङः पदान्तादति' (पा.सू.) और 'अकः सवर्णे दीर्घः' (पा.सू.) सूत्रों से लुप्तादि अकारका बोध सहज में ही हो सकता है, 'विचचक्षिरेऽसम्भूतिश्चतीर्त्वाऽसम्भूत्यामृतमश्नुते' लेखकजी को अध्याहार अनुकर्षण आदिका पहले अर्थ समझने का प्रयत्न करना चाहिये; तब भगवान् भाष्यकारके व्याख्यान में अध्याहार-दूपण उद्भावन करना चाहिये।

यद्यपि इसपर उचित अन्यान्य बहुत से विचार उठाये जा सकते थे, तथापि लेखक ने निरर्थक विचारों का उत्थापन किया

जो कि केवल दुःसाहस का सूचक है उस पर कुछ भी लिखना केवल समय का अपव्यय करना है। तथापि अज्ञजनता को कहीं भगवान् शङ्कराचार्य के लेखमें भ्रम न हो जावे बस केवल इसी लिए लेखनी को किञ्चित् श्रम दिया गया है, बुद्धिमानों के लिए तो कुछ कहना ही नहीं है।



सांख्ययोगमीमांसा

कुछ लोग

"सांख्ययोगौ पृथक् बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥
यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यञ्च योगञ्च यः पश्यति स पश्यति ॥

इत्यादि भगवद्वाक्यों के आधार पर यह सिद्ध करते हैं कि सां[ख्य]-निष्ठा और कर्म–निष्ठा ये दोनों ही पृथक् २ मोक्ष के साधन हैं क्यों कि दोनों एक ही हैं। श्लोकार्थ यह है कि सांख्य और यो[ग] को पृथक् २ बालक कहते हैं पण्डित नहीं–क्यों कि दोनों में किसी एक पर भी सम्यक स्थित होकर प्राणी दोनों के फल का भागी होता है। सांख्यों को जो स्थान प्राप्त होता है वही स्थान कर्म-योगियों को भी प्राप्त होता है–इसी वास्ते सांख्य और योग को [जो] एक ही समझता है वही पण्डित है।

अब यहां विवेचनीय तत्त्व यह है कि क्या सांख्य–योग स्वरूपत: तथा साधनत: एवं फलत: एक हो सकते हैं ? इसमें प्रथम पक्ष तो संभव नहीं-कारण कि "सम्यक् ख्यायेते–आत्मानात्मानौ-अनया, इति संख्या-आत्मानात्म-विवेकबुद्धिः, अथवा सम्यक् ख्यायते-प्रकाश्यते या सा, इति संख्या आत्मानात्म-विवेकस्तत्र परिनिष्ठिताः सांख्याः" इन व्युत्पत्तियों के बल पर आत्मा-अनात्मा दृक्–दृश्य, सत्य–अनृत, का याथात्म्य विवेच[न]

करने वाली, अतएव सम्यक् प्रकाश होने वाली प्रज्ञासे प्रकाशित होने वाले आत्मा तथा अनात्मा के विवेक में परिनिष्ठित होने वाले ज्ञानियों को सांख्य कहते हैं। उन सांख्यों की निष्ठा ज्ञानयोग से बताई गई है।

तथा "युज्यते योग्यो भवति सांख्यनिष्ठायामनेनेति योगः" इस व्युत्पत्ति से सांख्यनिष्ठा में उपयोगी साधनभूतक्रियाकलाप योग है—अर्थात् भगवत्स्वरूप साक्षात्कारोपयोगी कर्म ही योग है। किंवा "युज्यते—ब्रह्मसम्पन्नो भवति जीवोऽनेनेति योगः" ब्रह्म सम्पन्न होवे जीव जिस करके उस ज्ञान को ही मुख्य रूपसे योग कहते हैं। और उसके उपयोगी कर्म को भी योग कहते हैं। किंवा भगवत्साक्षात्कार के उपयोगी चित्तवृत्तिनिरोध को ही योग कहते हैं। स्वाभाविकी चेष्टा का वारक होने से कर्म भी उसमें उपयोगी है—अतः वह भी योग पद से विवक्षित होता है। सारांश यह है कि आत्मानात्म विवेचन पूर्वक परमार्थ आत्मस्वरूप साक्षात्कार या उसके अभ्यास को सांख्य कहते हैं तथा उसमें परिनिष्ठित पुरुष को भी सांख्य कहते हैं।

एवं स्वर्गादि की कामना से रहित होकर भगवच्चरणपङ्कज समर्पण बुद्धि से वर्णाश्रमानुसार श्रौत-स्मार्त अग्निहोत्रादिक्रिया कलाप रूप कर्म ही को योग कहते हैं। उसमें परिनिष्ठितों को योगी कहते हैं।

अब देखना यह है कि क्या कर्मयोग और सांख्ययोग का स्वरूप एक ही है? गंभीरतापूर्वक देखने से तो स्पष्ट मालूम होता है कि बुद्ध्यादि चेष्टा (चाञ्चल्य) त्याग द्वारा सत्य-अनृत, दृक् दृश्य, आत्मा-अनात्मा के विवेक पूर्वक तत्त्वसाक्षात्कार ही सांख्ययोग

है। और कर्तृत्व-भोक्तृत्व-नानात्व बुद्धिपूर्वक नानाविध कारकों का एकत्रीकरणपूर्वक वर्णाश्रमानुसार श्रुति स्मृति विहित चेष्टाएं ही कर्म हैं। इस तरह स्पष्ट ही दोनों के स्वरूप भिन्न २ हैं। किंच यदि यह दोनों एक ही होते तो अर्जुन के ये प्रश्न नहीं बन सकते थे कि—

"ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव॥"

अर्थात् "हे भगवन् यदि कर्म की अपेक्षा आप बुद्धि को श्रेष्ठ मानते हैं तो मुझे घोर कर्म में क्यों नियुक्त करते हैं।"

"व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्॥

अर्थात् "मिले हुए जैसे वाक्य से आप मुझे मोहित से करते हैं। यद्यपि आप परमकरुण सर्वेश्वर हैं। मेरे मोह के अपनयन करने के लिये ही प्रवृत्त हुए हैं। तथापि मुझे अपने बुद्धि दोष से ऐसा ही भान होता है"। इस प्रश्न से स्पष्ट मालूम होता है कि भगवान् ने बुद्धि यानी सांख्ययोग को "नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते" इत्यादि वचनों द्वारा श्रेष्ठ कहा था परन्तु अर्जुन के लिये "कुरु कर्मैव तस्मात्त्वम्" इत्यादि वचनों से कर्म की ही कर्त्तव्यता बतलाई है। अर्जुन की दृष्टि में गुरु-सुहृद्-मित्र बन्धु बान्धवों से युद्ध करना एवं उनका वध रूप कर्म घोर ही है। फिर भी उसे निश्चय नहीं होता है कि यदि बुद्धि कर्म की अपेक्षा श्रेष्ठ है तो उसे भगवान् घोर कर्म में क्यों प्रवृत्त करते हैं। वह चाहता है कि मेरा जिससे कल्याण हो उसी एक का मेरे लिये निर्देश किया जाय।

यहाँ बुद्धियोग पद से सांख्ययोग गृहीत है और कर्म पद से कर्मयोग विवक्षित है, क्योंकि आगे भगवान् ने इन्हीं दोनों को बुद्धियोग कर्मयोग पद से ग्रहण किया है। कहीं २ इसी बुद्धियोग को सांख्यबुद्धि कहते हैं। "एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु"। और कहीं २ इसी बुद्धियोग को संन्यास शब्द से भी कहा गया है।

"संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ"

यदि यह दोनों योग और सांख्य एकही होते तो इनका अपर्यायवाचक भिन्न २ शब्दों से निर्देश क्यों किया जाता। साथ ही एक को श्रेष्ठ तथा दूसरे को घोर न कहा जाता। और दोनों का स्वरूप भी भिन्न २ न होता।

यदि कहा जाय कि यद्यपि दोनों ही का साधन और स्वरूप भिन्न २ ही है परन्तु फल दोनों का एक है अतः फल की एकता से दोनों का ऐक्य है। यह भी ठीक नहीं, कारण सर्वत्र ही यह प्रसिद्ध है कि स्वर्गादि कामना से क्रियमाण कर्म का फल स्वर्गादि है। तथा निष्काम या भगवच्चरणपङ्कज समर्पण बुद्धि से अनुष्ठित कर्म का फल ज्ञानप्राप्ति की योग्यतारूप अन्तःकरण शुद्धि या ज्ञान प्राप्ति होती है। तथा ज्ञान से परम शान्ति रूप मोक्ष ही प्राप्त होता है।

"योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वात्मशुद्धये।"

"योगी लोग फलासक्ति को त्याग कर आत्मशुद्धि के लिये कर्म करते हैं।"

"स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः"

"स्वधर्मानुष्ठान से प्राणी सत्वशुद्धि या ज्ञानप्राप्तिरूप सि[illegible] को प्राप्त करते हैं"। यहां पर मोक्षरूपा सिद्धि विवक्षित नहीं है कारण कि इस सिद्धिप्राप्ति के बाद अग्रिम कृत्य का पृथक् निर्दे[illegible] पाया जाता है।

" सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा॥ "

ज्ञान का फल मोक्ष ही है।

" ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिं न चिरेणाधिगच्छति"

"ज्ञानप्राप्ति के अनन्तर परा शान्तिरूप मोक्ष प्राप्त हो[illegible] है"। इस तरह दोनों निष्ठाओं का फल भी भिन्न २ ही है।

यदि कहा जाय कि–"यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैर[illegible] गम्यते"

"जो स्थान सांख्यों को ज्ञान से प्राप्त होता है वही स्थान क[illegible] योगियों को कर्म से प्राप्त होता है"। इस भगवद्वाक्य से तो य[illegible] विज्ञात होता है कि दोनों का समान ही फल है, इसी वास्ते भगवा[illegible] ने दोनों को एक ही बतलाया है। सो यह भी ठीक नहीं है, क्यों[illegible] ऐसी स्थिति में कर्म द्वारा सिद्धिप्राप्ति के उपरान्त ज्ञाननिष्ठा [illegible] वर्णन व्यर्थ ही होता है।

और यदि कहा जाय कि दोनों के समुच्चय अर्थात् एक स[illegible] अनुष्ठान से ही मुक्ति प्राप्त होती है, सो भी ठीक नहीं, क्यों[illegible] ऐसी स्थिति में प्रथम तो जो सांख्य से फल प्राप्त होता है व[illegible] योग से प्राप्त होता है; इस कथनानुसार दोनों का स्वातन्त्र्य न रहा द्वितीय क्रमसमुच्चय–अर्थात् दोनों ही क्रमशः एक पुरुष से प्र[illegible]

कर्म पश्चात् ज्ञान उपास्य है; तब तो यह सिद्धान्त अभीष्ट ही है। परन्तु यदि समसमुच्चयकहैं, तो भी कर्मप्रधान-समुच्चय ज्ञान-प्रधानसमुच्चय-उभयप्रधानसमुच्चय कौन सा पक्ष सम्मत है। वस्तुतः "नैव किंचिन् करोमीति' के अनुसार अकर्तृत्व एकत्वबुद्धि के साथ कर्तृत्वद्वैतबुद्धि का सम्भव ही नहीं। फिर तीनों ही प्रकार समुच्चय कैसे हो सकते हैं।

इसके सिवाय यदि भगवान् ने सांख्य और योग का समुच्चय कहा होता तो अर्जुन का यह कहना न बन सकता कि "यदि बुद्धि कर्म की अपेक्षा श्रेष्ठ है तब मुझे घोर कर्म में क्यों प्रवृत्त करते हैं" "जिसमें श्रेय हो वह मुझे एक निश्चय करके बतलाइए। "ज्यायसीचेत् कर्मणस्ते" "तदेकं वद निश्चित्य" कारण कि जब दोनों का ही अनुष्ठान अपेक्षित है और दोनों ही स्वतंत्र या मिलकर श्रेय के हेतु हैं; तब उनमें किसको अभीष्ट कहा जा सकता है और किसको घोर (निकृष्ट) कहा जा सकता है। यदि कहा जाय कि भगवान के अभिप्राय को न समझकर अर्जुन ऐसा कहते हैं, सो भी ठीक नहीं, कारण अर्जुन का यह प्रश्न भ्रम-मूलक होता तो भगवान को भ्रममूलक प्रश्न के अनुरूप प्रति-वचन (उत्तर) देना चाहिये था। वह यों होता कि "मैंने तो दोनों ही के समुच्चय को श्रेय का मार्ग कहा है; फिर इसमें अपकर्ष उत्कर्ष क्या हो सकता है।"

और अर्जुन एक का ही प्रश्न क्यों करते हैं। जैसे किसी पित्त-प्रशमनार्थी के लिये वैद्य ने कहा कि "शीतं मधुरञ्च भुङ्क्ष्व" शीत और मधुर पदार्थ सेवन करो—ऐसी परिस्थिति में यदि पित्त-प्रशमनार्थी ऐसा कहे कि 'अनयोरेकतरं ब्रूहि' इनमें से एक पित्त

प्रशमन कारण को बतलाइये, तब चिकित्सक यही उत्तर देगा कि मैंने दोनों ही को पित्त प्रशमन कारण कहा था तुम क्यों भ्रां होकर एक का प्रश्न करते हो। यही तत्त्व आगे चलकर कर्मयोग और कर्मसंन्यास शब्द से कहा गया है। अर्थात् सांख्यनिष्ठा कर्म संन्यास पद से विवक्षित है। योगनिष्ठा कर्म पद से कही गयी है।

वहां पर भी अर्जुन का यही प्रश्न है कि "संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगञ्च शंससि। यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्" "हे भगवन्! आप कर्मों के संन्यास को भी कहते हैं, और कर्मों के अनुष्ठान को भी कहते हैं। जो इनमें प्रशस्यतर हो उसे निश्चित रूप से मेरे लिए कहें।" यदि यहां कर्मयोग और कर्मसंन्यास का समुच्चय हो सकता तो एक विषयक अर्जुन का प्रश्न अनुपपन्न होता। यदि यहां भी भ्रमवश ही अर्जुन का ऐसा प्रश्न मानें तो भगवान् का उत्तर तदनुरूप होना चाहिये था। ऐसा न होकर भगवान् का यह उत्तर इसके विपरीत है कि "संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ। तयोस्तुकर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते" "कर्मयोग और संन्यास यह दोनों ही निःश्रेयस के हेतु हैं। तथापि कर्मसंन्यास से कर्मयोग ही अधिक उपादेय है।"

यदि समुच्चय पक्ष ही भगवान् को इष्ट होता तो यही कहना चाहिये था कि मैंने कर्म और संन्यास (सम्यक् नितरां ब्रह्मण्यासः संन्यासः। इस व्युत्पत्ति के अनुसार सम्यक्नैरन्तर्य्येण भगवत्स्वरूप में स्थितिरूप ज्ञाननिष्ठा) इन दोनों को ही निःश्रेयस का मार्ग कहा था, तुम एक का ही प्रश्न क्यों करते हो। जो लोग कहते हैं कि गीता में यहीं पर भी भगवान् ने कर्मों का स्वरूपसंन्यास

कहा ही नहीं; उन्हें अर्जुन के इस प्रश्न पर ध्यान देना चाहिये। यहां स्पष्ट ही "संन्यासं कर्मणां कृष्ण" इत्यादि वाक्यों से अर्जुन कहते हैं कि हे कृष्ण ? आप कर्मों का संन्यास भी कहते हैं; तथा अनुष्ठान भी कहते हैं। यदि कहा जाय कि यह अर्जुन का भ्रममूलक ही कथन है सो भी ठीक नहीं। ऐसा होने पर भगवान् का दोनों के लिए श्रेयस्कर कहना उचित न होता। किन्तु स्पष्ट कहना चाहिये था कि मैंने कर्मों का संन्यास कहा ही नहीं।

यदि कहा जाय कि यहां काम्य कर्मों या फलों के त्याग को ही संन्यास कहा गया है सो भी ठीक नहीं है; कारण कि ऐसी स्थिति में दो के कहने की आवश्यकता ही नहीं होती। क्योंकि जो कर्म फलाकाङ्क्षा शून्य भगवदाराधन बुद्धि से किये जाते हैं। वे ही गीतोक्त निष्काम कर्मयोग शब्द से कहे जाते हैं। अतः एक ही तत्त्व का कर्मयोग एवं संन्यासशब्द से एक ही स्थल में निर्देश निरर्थक है। साथ ही फिर "यच्छ्रेय एतयोरेकम्" इस तरह इन में जो श्रेष्ठ हो उसे मेरे लिए कहो यह प्रश्न एवं "निःश्रेयसकरावुभौ" कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते" दोनोंही निःश्रेयस कर हैं। कर्मसन्यास से कर्मयोग श्रेष्ठ है; वे प्रतिवचनवाक्य विना कर्मयोग एवं कर्म संन्यास के भेद स्वीकार किये उपपन्न नहीं हो सकेंगे। यदि कर्मयोग तथा कर्मसंन्यास ये दोनों ही भिन्न २ हैं; और स्थिति गति के समान परस्पर विरोधी हैं अतः कर्मों का संन्यास और अनुष्ठान दोनों साथ नहीं हो सकते। तभी अर्जुन ने एक का ही प्रश्न किया है कि "इनमें जो श्रेयस्कर हो वही मेरे लिए कहा जाय। तदनुसार ही भगवान्का उत्तर है कि यद्यपि दोनों ही निःश्रेयस कर हैं तथापि प्राथमिक अधिकारी के लिए कर्मयोग ही श्रेष्ठ है।

यद्यपि कहा जा सकता है कि "यं संन्यासमिति प्राहुर्यो
गं तं विद्धि पाण्डव" इत्यादि वचनों से भगवान् ने योग और
संन्यास दोनों को एक ही कहा है। एवं सात्विक कर्म तथा सात्विक
त्याग या संन्यास यह सब एक ही हैं।

"नियतं संगरहितमरागद्वेषतः कृतम्।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्विकमुच्यते ॥
"कार्य्यमित्येव यत् कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
संगं त्यक्त्वा फलञ्चैव सत्यागः सात्विको मतः ॥"

तथापि गम्भीरता के साथ विचार करने पर मालूम पड़ता
है कि कर्मयोग में जहां भी कहीं संन्यास पद का प्रयोग आया है
वह गौण है। इसी वास्ते"

"संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुं।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ॥"

इस श्लोक में अर्जुन का प्रश्न है कि हे हृषीकेश हे महाबाहो
संन्यास और त्याग के तत्त्व को मैं जानना चाहता हूं। यहां पर
अर्जुन का क्या आशय है। वस्तुतः मुख्य संन्यास भी "यस्त्वात्म
रतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः" "नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृते
नेह कश्चन" सर्वारम्भ परित्यागी इत्यादि भगवद्वाक्यों से ब्रह्म
निष्ठ के लिए कर्त्तव्याकर्त्तव्य की अनावश्यकता कही गई। अतः
तत्त्वज्ञ तथा तत्त्वविविदिषु के लिए स्वरूप से सर्वकर्म संन्यास पूर्वक
श्रवणादि में या तत्त्वनिष्ठामें ही स्थिति सम्पादन करना उचित होता है।

"न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते" इस वाक्य का
स्पष्ट अभिप्राय यही है कि पुरुष केवल कर्म के अनारम्भ मात्र से
नैष्कर्म्य (निष्कर्म (सर्वचेष्टाराहित्य) साध्य ज्ञान) को नहीं प्राप्त
कर सक्ता। एतावता यह बात स्पष्ट सिद्ध होती है कि कर्मों के

आरम्भ से ही अन्तःकरण शुद्धि आदि द्वारा क्रमशः सर्वारम्भ-परित्यागी होकर प्राणी ज्ञान प्राप्त कर सकता है।"न च संन्यसनादेव-सिद्धिं समधिगच्छति" इस वाक्य में भी एव पद का स्वारस्य यही है कि केवल संन्यास मात्र से सिद्धि नहीं प्राप्त हो सकती। इससे यह तात्पर्य स्पष्ट व्यक्त होता है कि कर्मानुष्ठान पूर्वक ही कर्म-संन्यास सिद्धि का हेतु होता है। "संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तु-मयोगतः" "विना योग (कर्मानुष्ठान) के संन्यास केवल दुःख का ही निदान है। इससे भी स्पष्ट सिद्ध होता है कि योग से तो अन्तः-करण शुद्धि आदि क्रम से संन्यास भगवत्प्राप्ति का हेतु होनेमें सुखरूप ही है। श्रीमद्भागवत में भी ऐसा ही प्रसङ्ग है। वहां भी भगवच्चरणपङ्कजसमर्पणबुद्धि से फलासंगरहित होकर श्रौतस्मार्त्त कर्मों के अनुष्ठान से प्राणीको नैष्कर्म्यसिद्धि बतलाई गई है।

"वेदोक्तमेव कुर्वाणो निःसंगोऽर्पितमीश्वरे।
नैष्कर्म्यांसिद्धिं लभते रोचनार्था फलश्रुतिः॥

इस विषय में संदेह होता था कि यदि वेदोक्त कर्मों के अनुष्ठान का नैष्कर्म्यसिद्धि ही फल है तो प्रथम से ही कर्मरा-हित्यरूप निष्कर्म से नैष्कर्म्य (ज्ञान) का क्यों न सम्पादन किया जाय। नैष्कर्म्य के लिए वेदोक्त कर्मों के अनुष्ठान की क्या आवश्य-कता है। उस पर कहते हैं कि—

"नाचरेद्यस्तु वेदोक्तं स्वयमज्ञोऽजितेन्द्रियः।
विकर्मणा ह्यधर्मेण मृत्योर्मृत्युमुपैति सः" ॥

"जो प्राणी वेदोक्त कर्मों का अनुष्ठान नहीं करते वे परमात्म ज्ञान से शून्य एवं अजितेन्द्रिय होने के कारण विकर्म रूप अधर्म से पुनः पुनः मृत्यु को प्राप्त होते हैं"। अर्थात् कर्मों के अनुष्ठान के बिना नैष्कर्म्यसिद्धि अत्यन्त असंभावित होती है।

याने प्राणी के देहेन्द्रियादि की उच्छृङ्खल चेष्टायें—बिना श्रौत-स्मार्त्त नियतचेष्टा रूप कर्मों के—निरुद्ध नहीं हो सकतीं। अतः उनके निरोध के लिए श्रौतस्मार्त्त कर्म अवश्य आदरणीय हैं। इस प्रकार यही सिद्ध होता है कि कर्मों से ही नैष्कर्म्यसिद्धि होती है। अर्थात् कर्म, निष्कर्म संपादन द्वारा नैष्कर्म्य (ज्ञान) में उपयुक्त होते हैं। इस तरह कर्मसाध्य मनःशुद्धि के पश्चात् विविदिषादिवचनों से स्पष्ट है कि विविदिषु एवं विद्वान् के लिए सर्वकर्मसंन्यास रूप निष्कर्म का आदेश है।

श्रीभगवान् ने तीन प्रकार के अधिकारी को सूचित किया है। एक अत्यन्त निकृष्ट जो कि सकाम कर्म के अधिकारी हैं उन्हें स्वाभाविक लौकिक काम कर्म मिटाने के लिए वैदिक काम कर्म की आवश्यकता होती है। दूसरे वे जो विविदिषा एवं मुमुक्षा को उत्तेजित करने के लिए निष्काम कर्म के अनुष्ठान के अधिकारी हैं। जैसे भोजन की इच्छा वाला ही पुरुष बुभुक्षा को उत्तेजित करने के लिए औषध सेवन करता है। वैसे ही वेदन एवं मुक्ति की इच्छा वाला ही पुरुष विविदिषा मुमुक्षा को उत्तेजित करने के लिए ब्रह्मलोकादि फलों की स्पृहा छोड़कर आत्मशुद्धि के उद्देश्य से निष्काम कर्म करते हैं। तीसरे वे हैं जो सर्वकर्मसंन्यास पूर्वक आत्मनिष्ठामात्र के अधिकारी हैं। अर्जुन के लिए भगवान् ने यही कहा है कि "कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन" अर्थात् अर्जुन तुम्हारा कर्म में ही अधिकार है कर्म संन्यासमें नहीं। तत्रापि कर्म के फल में तुम्हारा अधिकार नहीं है। यानी कोई कर्म और कर्मफल दोनों के अधिकारी हैं कोई केवल कर्म के अधिकारी हैं फल के अधिकारी नहीं हैं। और कोई कर्म तथा फल दोनों के अधिकारी नहीं है। इसी वास्ते योगारुरुक्षु के

कर्म की आवश्यकता कही गई है। और योगारूढ के लिए शम की आवश्यकता कही गई है।

यदि कर्म में शम का संयोग होता और शम में कर्मका संयोग होता तो यह विभाग स्पष्ट नहीं कहा जा सकता। यहां ज्ञाननिष्ठा प्राप्ति, या ज्ञाननिष्ठा की योग्यताप्राप्ति ही योगारोहण है। उसे चाहनेवाले के लिए कर्म उपादेय है। और योगारूढ के लिए ज्ञान-प्राप्ति या ज्ञाननिष्ठादार्ढ्य के लिए शम (उपशम) याने बाह्य और अन्तःकरणों के व्यापारों का निरोध ही अपेक्षित है।

इसतरह संन्यास एवं तत्साध्य मुख्य सर्व चेष्टाराहित्य पुरस्सर भगवन्निष्ठारूप संन्यास सर्वथा सम्प्रतिपन्न है। परन्तु अर्जुन के प्रश्न का आशय यही है कि त्याग संन्यास शब्दार्थ एक ही है या भिन्न भिन्न? यदि एक ही है तो भी क्या संन्यास एक ही प्रकार का है किंवा जैसे ब्रह्मचर्य्य गौण मुख्य भेद से दो प्रकारका होता है। अर्थात् जैसे अष्टाङ्ग मैथुनत्यागी मुख्य ब्रह्मचारी होता है। और ऋतुकालमें स्वदारगामी भी गौण ब्रह्मचारी होता है। क्या इसी तरह संन्यासमें भी गौणमुख्य दो भेद होते हैं? यदि होते हैं तो उस गौण संन्यासी के लक्षण कहना चाहिए। बस इसी प्रश्न का उत्तर भगवान ने अठारहवें अध्याय में दिया है।

भगवान् ने गुणयोग से कर्मठ में भी संन्यासी शब्द का प्रयोग किया है " नह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन " बिना संकल्पों का संन्यास किये कोई भी गीतोक्त निष्काम कर्मयोगी नहीं हो सक्ता। इस तरह संकल्पसंन्यासरूप गुण के योग से कर्मी भी गौण संन्यासी हो सक्ता है। जैसे तेजस्त्रि-त्वगुण योग से शिशुको अग्नि कहते हैं तद्वत्, इसी गौण संन्यास

का ही कर्मयोगसे अभेद बतलाया गया है। "यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव" जिसे संन्यास कहते हैं उसे ही हे पाण्डव योग भी जानो। इसी गौणसंन्यास को मुख्यसंन्यास समझने से अधिकतर लोगों को भ्रान्ति होती है कि गीता में स्वरूप से कर्मों का संन्यास है ही नहीं। परन्तु "तस्य कार्यं न विद्यते" "सर्वारम्भपरित्यागी" "सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी" "सर्वधर्मान् परित्यज्य" इत्यादि वचनों से स्पष्ट ही विविदिषु तथा विद्वान् के लिये स्वरूपसे कर्मसंन्यास का निर्देश है।

वस्तुतः कर्मनिष्ठा उपाय है और सांख्यनिष्ठा उपेय है। उपाय निष्ठा सहित उपेयनिष्ठा गीता शास्त्र के तात्पर्य्य का विषय है। जब तक सांख्यनिष्ठा की योग्यता न प्राप्त हो तब तक कर्मनिष्ठा में निरत होना चाहिए। सांख्यनिष्ठा की योग्यता होने पर कर्म संन्यास पूर्वक सांख्यनिष्ठा ही उचित है। इसीवास्ते भाष्यकार अज्ञ के लिए कर्म की कर्त्तव्यता बतलाते हैं। विज्ञ के लिए ब्रह्मात्मैक्यनिष्ठा मात्र कर्त्तव्य है।

यही भाष्यकार की उक्ति अनभिज्ञों को खटकती है। जो प्राणी नानाप्रकार के शास्त्रों तथा कला, कौशल, राजनीति आदि विषयों में संभावित विज्ञ समझे जाते हैं। वे अपने को अज्ञ समझना अनुचित समझते हैं; वे समझते हैं कि यदि हम मान्यगण्य बुद्धिमान होकर भी कर्म में ही प्रवृत्त हैं; तब यह कैसे कहा जा सकता है कि अज्ञ ही कर्म के अधिकारी हैं। परन्तु भाष्यकार केवल शास्त्रज्ञ या नीतिज्ञ को ही विद्वान् नहीं समझते। उनकी दृष्टि में तो सकल शास्त्रनिष्णात सर्वकलानिपुण भी अज्ञ ही है जब तक कि शान्त निर्विकारचित्त से अनन्त सच्चिदानन्दघन ब्रह्म का प्रत्यगात्मरूप

से नहीं साक्षात्कार किया। यदि इस विद्वत्ता की ओर ध्यान दिया जाय तब तो प्रायः अधिक मात्रा में बहुज्ञ लोककुशल भी अज्ञ ही हैं। इसके सिवाय जो प्राणी पुत्रैषणा वित्तैषणा लोकैषणा से विनिर्मुक्त हैं वेही कर्म संन्यास पूर्वक ब्रह्मनिष्ठा के अधिकारी होते हैं। वस्तुतः ये एषणायें (इच्छा या वासनाएं) अत्यन्त दुर्निवार्य्य हैं। पुत्रैषणा वित्तैषणाओं का अभाव किसी प्रकार हो भी जाय; परन्तु लोकैषणा का निर्मोक अत्यन्त दुष्कर है। जो लोक में परम-त्यागी या परोपकारपरायण महापुरुष हैं; वे भी यदि हृदय को टटोलते हैं; तब वे भी अपने को एषणानिर्मुक्त नहीं पाते। ऐसी स्थिति में वे सब सुतरां कर्मयोग के ही अधिकारी होते हैं। अभि-प्राय यह है कि संसार में प्राणियों का राग स्वाभाविक है और वैराग्य प्रयत्नसाध्य है। अतः प्रथम कर्मों द्वारा अन्तःकरण शुद्धि-संपादन करना चाहिए अनन्तर ज्ञाननिष्ठा।

संसार की ओर प्राणियों की स्वाभाविकी प्रवृत्ति है। विना उपदेश के भी प्राणियों की प्रवृत्ति होती है। उपरति या वैराग्य सहस्रों प्रयत्नों से भी कठिनताही से होता है। अतः कितने भी विद्वान् बुद्धिमान् नीतिकलाकुशल हों; परन्तु यदि वे रागी हैं तो अज्ञ हैं अतः केवल कर्मों के ही अधिकारी हैं। हां तत्त्वज्ञ भी लोक-संग्रह के लिए कर्मों का अनुष्ठान कर सक्ता है। भाष्यकार के समुच्चय पक्ष के खण्डन का आशय यह है कि मुक्ति में अन्यानपेक्ष ज्ञान ही पर्य्याप्त है, अर्थात् ज्ञान को मुक्तिसम्पादन में किसी की भी किञ्चित् अपेक्षा नहीं है।

कर्मयोग तत्त्ववेत्ता के किसी प्रयोजन का नहीं है, वह तो केवल लोक संग्रहमात्र के लिए है। जैसे भगवान् श्रीकृष्णका

क्षात्रोचित कर्मयोग उनके पुरुषार्थसिद्धि के लिये नहीं उपयुक्त है। एकमात्र लोकसंग्रह के लिये ही है। "नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त्त एव च कर्मणि" "यदि ह्यहं न वर्त्तेयं जातुकर्मण्यतन्द्रितः" उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्य्यां कर्म चेदहम्। भगवान् स्वयं कहते हैं कि मुझे किसी अप्राप्त वस्तुकी प्राप्ति नहीं करनी है। मैं केवल लोकसंग्रह के ही लिए कर्म करता हूं। इसके सिवा यदि कर्म के बिना केवल ज्ञान मुक्ति न संपादन कर सके तभी कर्म का समुच्चय कहा जा सक्ता है। परन्तु 'श्रुति ज्ञानादेव तु कैवल्यं' इत्यादि श्रुति प्रकार से केवल ज्ञान को ही कैवल्य का साधन बतला रही हैं। अतः समुच्चय व्यर्थ है। यदि ज्ञानी का कर्म, कर्म हो तभी उस कर्म का ज्ञान के साथ समुच्चय कहा जा सकता है। परन्तु ज्ञानी का कर्म तो कर्म ही नहीं है। जैसे कोई प्राणी प्रथम स्वर्गादि फल की कामना से अग्निहोत्रादि काम्यकर्मों में प्रवृत्त हुआ और जब कुछ काल पर्यन्त करने के पश्चात् उसकी कामना मिट गयी, फिर वह प्राणी चाहे उस कर्म को करता ही रहे परन्तु अब उस कर्म को काम्यकर्म नहीं कह सकते।

इस तरह कामना नष्ट होने से जैसे काम्य कर्म भी काम्यकर्म नहीं रह जाता वैसे कर्तृत्व भोक्तृत्व नानात्वबुद्धि पूर्वक साहंकार प्राणियों से कियागया कर्म ही कर्म कहा जा सक्ता है जिन तत्त्वज्ञों की कर्तृत्व भोक्तृत्वादि बुद्धि बाधित हो चुकी अहंकार जिनका बाधित हो चुका है उनके किए हुए कर्म कर्म ही नहीं होते। इन्हीं वास्ते तत्त्ववेत्ता के मन्तव्य को भगवान् इस तरह व्यक्त करते हैं। "पश्यन् शृण्वन्स्पृशन् जिघ्रन् अश्नन् गच्छन् स्वपन्श्वसन् नैवकिञ्चित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्"। देखता हुआ

श्रवण, स्पर्श आदि करता हुआ तत्त्ववेत्ता "मैं कुछ नहीं करता हूँ" ऐसा ही मानता है। अर्थात् अनेक प्रकार से देहेन्द्रियादि के व्यापारवान् होने पर भी तत्त्वज्ञ अपने निर्विकार स्वरूप को कर्म विहीन ही समझते हैं। यदि यह तत्त्वज्ञों का मन्तव्य भ्रम है तब उन्हें तत्त्वज्ञ ही नहीं कहा जा सक्ता किन्तु वे तो भ्रान्त ही कहे जा सकते हैं। भगवान्, 'करते हुए भी मैं कुछ नहीं करता हूँ' ऐसे मन्तव्य वालों को तत्त्ववित् कहते हैं। इस वास्ते ठीक यही मालूम पड़ता है कि जैसे जपाकुसुम के सांनिध्य से स्वच्छ स्फटिक में भ्रमवश लौहित्य की प्रतीति होती है; उसी तरह कर्मवान् देहादि के अध्यासिक सम्बन्ध से आत्मा में भी कर्मवत्ता की प्रतीति होती है। आत्मा का निरुपाधिक (स्वाभाविक) स्वरूप नित्य ही अकर्मा है। अतः आत्मदृष्टि में 'नैव किञ्चित्करोमि, ऐसा अनुभव प्रमा ही है। जैसे स्फटिक की स्वच्छता का ज्ञान प्रमारूप ही है भ्रम नहीं। 'तद्वत'

यदि कहा जाय कि कर्त्तृत्व भोक्तृत्व नानात्वबुद्धि तत्त्वज्ञ को भी रहती है क्योंकि बिना उक्त बुद्धि के कर्म किसी प्रकार हो ही नहीं सक्ता तो इसका उत्तर यही है कि यद्यपि तत्त्वज्ञान से कर्तृत्वादि बुद्धि का बाध हो ही चुका। तथापि कर्मोपयोगी कर्त्तृत्वाभास भी अनुवृत्त होता है।

जो पित्त दूषणरहित प्राणी निर्दुष्ट रसना से गुड़ की मधुरिमा का अनुभव कर चुका उसे पित्त दोष वशात् गुड़ में तिक्तता का प्रतिभास होने पर भी वह उसे मिथ्या ही मानता है। ठीक वैसे ही कर्त्तृत्वादि बुद्धि के बाध होने पर भी प्रारब्ध दोषवश कर्तृत्वभोक्तृत्वनानात्वबुद्धि के प्रतिभास होते हुए भी ज्ञानी उसे मिथ्या समझते हैं। तस्मात् ठीक ही ज्ञानी को दृढ तात्त्विक कर्तृत्वादि बुद्धि नहीं होती।

अतः उसके कर्म केवल कर्माभास ही हैं। वे कर्म नहीं कहे जा सकते। अतः उनका ज्ञान के साथ समुच्चय कहना उचित नहीं है।

"यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते" इत्यादि श्लोकों का अभिप्राय यह है कि कर्म की सहायता से उत्पन्न हुए ज्ञान से जो पद प्राप्त होता है, ज्ञानसापेक्ष कर्म से अर्थात् ज्ञानप्राप्ति क्रमेण कर्मयोग से वही पद प्राप्त होगा।

जैसे किसी रोगी को रोगनिवृत्ति के लिए कोष्ठशोधक हरीतकी और स्वास्थ्याभिवर्धक चन्द्रोदय, यह दो औषधियाँ उपस्थित हों और वहाँ यह प्रश्न किया जाय कि इनमें किसका सेवन उचित एवं श्रेयस्कर है। इस पर यही उत्तर उचित है कि यद्यपि दोनों ही औषध रोग के निवर्तक हैं। तो भी उस रोगी के लिए चन्द्रोदय की अपेक्षा कोष्ठशोधक हरीतकी आदि ही अधिक उपादेय है। क्योंकि कोष्ठशुद्धि बिना चन्द्रोदय का उपयोग भी व्यर्थ होता है।

ऐसे ही जिस पुरुष की अन्तःकरण शुद्धि नहीं तथा वैराग्य आदि नहीं हुआ है उसके लिए ज्ञानयोग से कर्मयोग ही श्रेष्ठ है। कर्मयोग से जिसके अन्तःकरण की शुद्धि नहीं उसके लिए साङ्ख्यनिष्ठा व्यर्थ ही नहीं प्रत्युत वह दुःख का ही हेतु है। "संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः" इसी वास्ते यह उक्ति है कि "संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते। जो आरोग्य चन्द्रोदय से प्राप्त होवेगा वही कोष्ठशोधक हरीतकी आदि से भी प्राप्त होवेगा, परन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं है कि चन्द्रोदय निरपेक्ष केवल हरीतकी से ही वह कार्य्य हो जायगा। जो चन्द्रोदय से होवेगा। किन्तु यहाँ

कि हरीतकी से कोष्ठशुद्धि एवं चन्द्रोदय सेवन करने की योग्यता होवेगी; पश्चात् चन्द्रोदय सेवन से पूर्ण आरोग्य प्राप्त होगा। वैसे ही कर्म से स्वान्तःशुद्धि सांख्यनिष्ठा योग्यता प्राप्तिक्रमेण वही पद प्राप्त होगा जो कि सांख्ययोग से प्राप्त होने वाला है। जैसे—कर्मसापेक्ष ही सांख्य अपना फल देता है वैसे ही सांख्यसापेक्ष कर्म भी अपना फल देता है। इस तरह अन्योऽन्य सापेक्ष दोनों का फल एक ही है। अर्थात् कर्म सापेक्ष सांख्य का जो कैवल्य फल है वही सांख्यसापेक्ष कर्मयोग का भी है। इसी अभिप्राय से "यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानम्" यह उक्ति है। इसका यह अभिप्राय कदापि नहीं हो सकता कि कर्म निरपेक्ष ज्ञान से जो पद प्राप्त होता है ज्ञानानपेक्ष स्वतन्त्र कर्म से भी वही पद प्राप्त होता है। किन्तु ज्ञानसापेक्ष ही कर्म से वह पद प्राप्त होता है जो कि कर्म की अपनी उत्पत्ति में अपेक्षा करने वाले ज्ञानयोग से प्राप्त होता है। इसी अभिप्राय से—

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
एकं सांख्यञ्च योगञ्च यः पश्यति स पश्यति॥

कर्म को कैवल्य रूप फल सम्पादन में ज्ञान की अपेक्षा है, ज्ञान को अपनी उत्पत्ति में कर्म की अपेक्षा है। कर्मको अपनी उत्पत्ति में सांख्य की आवश्यकता नहीं है, सांख्य को अपने फल संपादन में कर्म की आवश्यकता नहीं इस तरह अंशतः दोनों ही सापेक्ष भी हैं, और अंशतः निरपेक्ष भी हैं।



गीता के उपसंहारात्मक श्लोक का विवेचन।

पूर्वाचार्यों के व्याख्यानों पर किये गये आक्षेपों का समाधान

कल्याण के पिछले (गत सं० १९९३ के चैत्र या वैशाख के) अङ्क में एक लेख छपा है, जिसका शीर्षक है–'गीता का अभ्यासक्रम और रहस्य' उसके लेखक हैं 'कल्याण' के सर्वस्व जयदयालजी। हमने सुन रखा था कि 'कल्याण' में खण्डनमण्डनात्मक लेख नहीं छपते, पर उक्त लेख में प्राचीन विद्वानों के शास्त्रपरिष्कृत अभिप्रायों का मनमानी कल्पनाओं से तिरस्कार किया गया है। लेखक ने लेख के आदि में वर्तमान सभ्यता के अनुसार अपने को अविद्वान एवं ऐसे लेख का अनधिकारी मानकर गर्वपरिहार किया है। परंतु यह बात लेख को पढ़कर तथ्य ही मालूम पड़ती है। समझ में नहीं आता, ऐसी अवस्था में लोग क्यों ऐसा साहस कर बैठते हैं ?

अस्तु, अब हम निष्पक्ष दृष्टि से शास्त्राधारपूर्वक केवल दोष के निराकरण की कामना से विवेच्यांशों को उद्धृत करके विवेचन प्रस्तुत करते हैं। विशेष विवेच्यांश के ये दो खण्ड हैं।

१–" यहाँ 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' का भाव किन्हीं किन्हीं महानुभावों ने सब कर्मों के फल का त्याग बतलाया है, परंतु शब्दों से ऐसा भाव व्यक्त नहीं होता। दूसरे पक्ष का कथन है कि ऐसा कहकर भगवान् ने स्वरूप से समस्त धर्मों का त्याग

बताया है, किंतु ऐसा अर्थ भी युक्तिसंगत नहीं है; क्योंकि अर्जुन ने भगवान् की आज्ञा से युद्ध ही किया, एकान्तसेवन नहीं किया। तीसरा पक्ष कहता है कि अपने कर्तव्य कर्मों को करता हुआ अकर्तृत्वबुद्धि रखे, यही भगवान् का आशय है। यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा कहना ज्ञान की दृष्टि से संभव है, किंतु यहाँ प्रकरण भक्तियोग का है।"

२—"भगवदाज्ञा के सामने अन्य किसी धर्म का न मानना ही 'सर्वधर्मपरित्याग' है। ईश्वराज्ञा और धर्मशास्त्र में विरोध सा प्रतीत होने पर 'भगवदाज्ञा ही माननीय है, क्योंकि धर्म का तत्त्व' गहन है; साधारण पुरुष उसका निर्णय नहीं कर सकते।"

इस तरह लेखक ने 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' इस गीतांश का विचार करते हुए कई पक्षों का उपक्षेप किया और उन्हें अनुपपन्न बताया है। साथ ही अपने मत से सर्वधर्मपरित्याग का अभिप्राय भगवदाज्ञा के सामने अन्य किसी धर्म का न मानना भी सिद्ध किया है। परंतु यह अर्थ भगवान् के शब्दों से अभिव्यक्त नहीं होता, सर्वकर्मत्यागरूप प्रथम पक्ष को दर्शाते हुए लेखक ने भी इस बात को "परंतु शब्दों से ऐसा भाव व्यक्त नहीं होता।" इन शब्दों में स्वीकार किया है—लेखक यदि अपने इन अर्थ को यौक्तिक या तात्पर्य्यसंवेद्य मानते हैं, तो उन्हें शब्द से न व्यक्त होनेवाले अर्थको यौक्तिकार्थ या तात्पर्यार्थ मानना अनिवार्य होगा। और इस तरह से प्रथम पक्ष—सर्वकर्मफलत्याग के समर्थक भी अपने अर्थ को तात्पर्यार्थ मानेगें। किञ्च लेखक ही अपने अर्थ को तात्पर्यार्थ मानें। दूसरा अपने अर्थ को तात्पर्यार्थ न मानें, इसमें कोई विनिगमक नहीं है, बल्कि प्रथम पक्ष की पुष्टि

नें "सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च" से फलत्यागविधान भगवदुक्ति प्रमाणसिद्ध है। इसके अतिरिक्त स्वयं भगवान् ने ही—

"कुरु कर्मैव तस्मात्त्वम्........"
"कर्मण्येवाधिकारस्ते............"

—गी० २।४७

इत्यादि उक्तियों से धर्मपालनार्थ कर्मानुष्ठान ही बताया है कर्मत्याग नहीं बताया; प्रत्युत "...मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि" से कर्माकरण का निषेध किया है। इस तरह कर्मानुष्ठान एवं तत्संपादित सर्वकर्मफलत्यागरूप प्रथम पक्ष भी गीता के अनुसार उचितार्थक हो सकता है।

आगे चलकर लेखक ने एक और भी नई कल्पना का प्रसङ्ग किया है। आपने लिखा है—'जहाँ ईश्वराज्ञा और धर्मपालन में विरोध सा प्रतीत होता हो, वहाँ भगवच्छरणापन्न भक्त के लिये भगवदाज्ञा मानना ही मुख्य कर्तव्य है।" और इसकी पुष्टि में कर्णवध के दृष्टान्त का स्मरण किया है। आप ईश्वराज्ञा और धर्मपालन को परस्पर विरुद्ध मानते हैं, अर्थात् आपके मत में ईश्वराज्ञापालन और धर्मपालन दोनों भिन्न हैं। एतावता ईश्वर की आज्ञा धर्मपालनविरोध में सिद्ध हुई। क्योंकि यदि धर्मपालन ही ईश्वराज्ञा होती या ईश्वराज्ञा ही धर्मपालन होता, तब तो विरोध की संभावना स्वप्न में भी न थी, परन्तु इस कल्पना को लेखक ने स्वयं भी बड़े संकोच के साथ, कुछ डरते हुए लिखा है। मालूम पड़ता है आप अपने शास्त्रसामर्थ्यवैधुर्य की रक्षा के लिए ऐसी चिकनी चुपड़ी बातें लिखते हैं। इसी लिए लिखते कुछ हैं और

सिद्ध कुछ होता है। जैसे "......विरोध सा प्रतीत होता है..." आपके कथन से ही यह 'विरोध सा' में 'सा' उक्ति विरोधाभाव को बताती है। अर्थात् भगवदाज्ञा और धर्मपालन में वास्तव में विरोध नहीं। ऐसी स्थिति में भगवदाज्ञा के सामने अन्य धर्मों के न मानने का कुछ अर्थ ही नहीं होता।

दूसरी बात यह है कि जब शास्त्र भी "श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे" इस भगवदुक्ति के अनुसार भगवदाज्ञा ही है, तब शास्त्रोक्त धर्म भगवदाज्ञा से विरुद्ध हो भी कैसे सकता है जिसका त्याग किया जाय? यदि प्रातीतिक विरोध भी हो, तो भी जैसे एक शास्त्रीय वाक्य का दूसरे शास्त्रीय वाक्य के साथ विरोध होने पर समन्वय ही किया जाता है उनमें से किसी की उपेक्षा नहीं की जाती, वैसे ही धर्मशास्त्र तथा भगवदाज्ञा का भी समन्वय ही उचित है। क्योंकि वह भी भगवदाज्ञा ही है। एक आज्ञा का दूसरी आज्ञा से अतिलङ्घन कैसे किया जाय?

यदि श्रुतिस्मृतिरूप आज्ञा की अपेक्षा साकाररूप में अवतीर्ण भगवान् की आज्ञा अधिक मान्य है, अतः श्रीकृष्ण भगवान् की आज्ञा से शास्त्रोक्त धर्म का त्याग हो सकता है, ऐसा अभिप्रेत है, तब तो श्रीबुद्ध भगवान् की आज्ञा से सारे वैदिक-धर्म का त्याग कर देना चाहिए, क्योंकि वह भी दशावतार में श्रीकृष्ण की भाँति एक अवतार ही हैं। यदि श्रीकृष्ण की ही आज्ञा ऐसी प्रबल है, अन्य की नहीं, ऐसा अभिप्रेत है, तब इसमें कोई युक्ति या प्रमाण का निर्देश होना चाहिए। इसके अतिरिक्त इस तरह रामभद्र की आज्ञा की भी अवहेलना होगी। आप कहेंगे शास्त्रानुकूल भगवान् की आज्ञा मान्य है; बुद्धदेव शास्त्रानुकूल

नहीं थे, अतः उनकी आज्ञा मान्य नहीं। ऐसी स्थिति में शास्त्रा-नुकूल भगवदाज्ञा धर्मपालन के विरुद्ध कैसे होगी ? इसके सिवा जब कि गीताशास्त्र अर्जुन के व्याज से अधिकारी मनुष्यमात्र के लिए है, तब तो उसका अर्थ व्यापक ही होना चाहिए। साधा-रण मनुष्य के लिए तो शास्त्ररूप ही भगवान् की आज्ञा हो सकती है। क्योंकि अर्जुन के समान सबका तो ऐसा सौभाग्य नहीं कि उसे भगवान् प्रत्यक्ष प्रकट होकर आज्ञा दें जिस आज्ञा से तद्विरुद्ध धर्म का त्याग किया जाय !

'यह बात केवल अर्जुन के लिए कही गई है। ऐसा भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि आप ही 'सर्वशास्त्रमयी गीता' के इस श्लोक को सारभूत बतलाते हैं। फिर वह एक दो व्यक्तिमात्र में कैसे पर्यवसित हो सकता है ?

लेखक महोदय से भला कोई प्रश्न करे कि आपने यह कैसे जाना कि "भगवदाज्ञा से शास्त्राज्ञा दुर्बल है" यदि यह आपकी ही मनमानी कल्पना है, तो इसे शास्त्रज्ञ लोग कैसे मान सकते हैं ? यदि आपका यह अभिप्राय है कि भगवान् श्रीकृष्ण परमे-श्वर हैं, सर्वज्ञ हैं, अतः उनकी बात शास्त्रों से बढ़कर है, तब तो पहले शास्त्र छोड़कर परमेश्वर की तरफ चलना केवल बालू की भीत उठाना है। कारण कि ईश्वर के विषय में शास्त्र के अतिरिक्त कोई प्रमाण ही नहीं। अनुमानादि युक्तियों से यदि किसी जगन्नि-यन्ता की सिद्धि हो भी, तो क्या पता कि वह ईश्वर कौन है ? कृष्ण, शिव, बुद्ध, अल्लाह, अथवा मसीह ? और उसकी आज्ञा क्या है ? गीता या पाशुपतागम, यद्वा बौद्धागम अथवा कुरान ? यदि युक्तियों के बल पर आप अपने कृष्णादि को ईश्वर एवं गीतादि

को तदाज्ञा मानेंगे, तब तो जिन जिन युक्तियों या तर्कों से आप अपना मत सिद्ध करेंगे, ठीक उन्हीं युक्तियों और तर्कों से अन्यान्य विपक्षी भी अपने पक्षों की पुष्टि कर सकते हैं। अर्थात् अपने अपने अभिमत शास्त्रकार को ईश्वर तथा अपने अपने अभिमत ग्रन्थ को ही ईश्वराज्ञा मानेंगे। ऐसी स्थिति में कौन ईश्वर, कौन ईश्वराज्ञा, यह विवेचन अशक्य ही हो जायगा।

यदि आप अपौरुषेय वेदादि शास्त्रों के अनुसार कृष्ण को ईश्वर और उनकी गीता को ईश्वराज्ञा मानें, तब तो मूल वेदादि शास्त्रों के विरुद्ध भगवान् की आज्ञा की कल्पना भी कैसे हो सकती है? क्योंकि शास्त्र तो भगवत्स्वरूप के अस्तित्व का साधक है। अतः भगवत्स्वरूपसाधक वेदादि शास्त्र के विरुद्ध भगवान् की आज्ञा हो ही नहीं सकती। और यदि हो भी, तो वृद्धाज्ञा के समान शास्त्र के सामने शास्त्र-विरुद्ध भगवदाज्ञा ही उपेक्ष्य है। भगवत्तत्त्व वेदवेद्य तथा औपनिषद है। हमें शास्त्र ही भगवान् को बताते हैं। अतः हमारे लिए मूल शास्त्र ही हैं। 'शास्त्रैकसमधिगम्य' भगवान् की आज्ञा से शास्त्रोक्त धर्म का बाध अत्यन्त विरुद्ध है। ऐसी स्थिति में शास्त्राज्ञा और भगवदाज्ञा में विरोध देखना, केवल आजकल के भक्तों की या भक्ताभासों की दुर्भावना मात्र है। वे जब कोई शास्त्रविरुद्ध चेष्टा करते हैं और उनसे कोई कहता है कि यह शास्त्रविरुद्ध है, तब उसके उत्तर में ऐसे भक्तजन एक तरह के गौरव से इतराकर कह देते हैं—"हमारे लिए ऐसी ही ईश्वरीय प्रेरणा है।" वाह! बलिहारी है इस ईश्वरीय प्रेरणा की, जो अपने बल पर भगवत्सर्वस्व शास्त्रों के विरुद्ध चलाकर भी शास्त्रैकपक्षपाती बनाये रखती है।

इसके अतिरिक्त प्राचीन महर्षि लोग उपनिषद्सार ही को गीता के रूप में पद्मनाभ के मुखपद्म से विनिःसृत मानते हैं। जैसा कि गीता के माहात्म्य में उपलब्ध है—

"सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥

इस तरह से उपनिषन्मूलकत्व वेदशास्त्रमूलकत्व भगवदुक्ति को भी प्रामाण्य का हेतु मानते हैं। भगवान् भी स्वयं शास्त्रोक्त धर्म के प्रतिष्ठापन एवं तद्विघातकों के विनाश के लिए ही अवतीर्ण होकर अपने आप भी धर्म का अनुष्ठान करते हैं। एवं अर्जुन को भी शास्त्राज्ञापालन के लिए बाधित करते हैं।

"तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ॥
यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥"

—गी० १६।२३-२४

इन सब विचारों के साथ एक यह भी बात है कि भगवान् ने कहीं भी ऐसा नहीं कहा कि हमारी आज्ञा का प्राधान्य समझना और शास्त्राज्ञा का अप्राधान्य।

अब रही कर्णवध के दृष्टान्त की बात इस विषय में भी यद्यपि अन्यान्य बहुत वक्तव्यांश शेष हैं; तथापि आततायिवध धर्म ही है अतः कर्णवध धर्म था। यह बात आपकी ही इस विषय में लिखी टिप्पणी से स्पष्ट है अतः दृष्टान्त भी आपकी बात का पोषण नहीं करता।

अब रहा तृतीय पक्ष, जिसका उल्लेख लेखक ने इन शब्दों में किया है—'कर्तव्य कर्मों को करता हुआ कर्तृत्व बुद्धि न रखे' यह भी—

"नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्"

—गी० ५।८

इत्यादि भगवद्वचन के अनुसार यद्यपि उचित अर्थ प्रतीत होता है, परंतु आपके अर्थ से भगवद्वचन का कोई संबन्ध ही नहीं प्रतीत होता। आगे चलकर आपने इस विषय पर 'यह भी ठीक नहीं, क्योंकि ऐसा कहना ज्ञान की दृष्टि से संभव है, किंतु यहाँ प्रकरण भक्तियोग का है' ऐसा कहकर उपर्युक्त तृतीय पक्ष को अयुक्त बताया। यह भी थोड़ा चिन्त्य है।

आप भी अन्यों की तरह 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' इत्यादि श्लोक को 'सर्वशास्त्रमयी गीता' का सार मानते हैं। ऐसी परिस्थिति में क्या गीता का सार भक्ति है, या ज्ञान? यदि ज्ञान सार है, तब उपसंहारभूत श्लोक भक्तिप्रकरणगत कैसे हो सकता है? क्योंकि ज्ञानशास्त्र का उपसंहार ज्ञान में ही होना युक्त है। यदि कहें भक्ति ही सार है, तब—

"भक्त्या मामभिजानाति"
"तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥"

—गी० १०।१०

इत्यादि वचनों से भक्ति ज्ञान का साधन नहीं बन सकती? क्योंकि जो सार है उसे ही साध्य होना चाहिए।

उसके सिवा आपने भी 'अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्'' तथा "...मा शुच" इन उपक्रमोपसंहारों से शोकनिवृत्ति गीता-शास्त्र का मुख्य उद्देश्य माना है। अब विचारना यह है कि शोकमोहोपलक्षित संसार की निवृत्ति किससे होती है। ज्ञान से या स्वतन्त्र भक्ति से ? यदि भक्ति से ही संसार की निवृत्ति होती है, तो उपर्युक्त दो श्लोकों द्वारा भक्ति से ज्ञान की उत्पत्ति क्यों बतलाई गई जब कि भक्ति से ही स्वतन्त्र शोकोपलक्षित संसार की निवृत्ति हो सकती थी। किंच उपनिषदें भी एकत्वदर्शन से शोक मोह की निवृत्ति बतलाती हैं।

"तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः"।

तथा च श्रुति भी सुस्पष्टतया ज्ञान को ही मोक्ष का असाधारण हेतु बतलाती है। इसके अतिरिक्त अन्य सभी ज्ञान के द्वारा ही मोक्ष के साधन हैं, स्वतन्त्र नहीं।

"तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय"

गीता भी—

"नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते"
"वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः"
"ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्"
"एक भक्तिर्विशिष्यते"

इत्यादि वचनों से ज्ञान की महत्ता एवं दुर्लभता सिद्ध कर रही है। यदि इन वचनों के आधार पर ज्ञान को ही सार मानें तब गीता का उक्त उपसंहारात्मक श्लोक भक्ति प्रकरण का कैसे हुआ ?

वस्तुतस्तु—यद्यपि गीता के तीनों ही षट्कों में कर्म, भक्ति और ज्ञान का प्रतिपादन है; तथापि प्रथम षट्क में कर्म की, द्वितीय में भक्ति की, और तृतीय में ज्ञान की प्रधानता है। वेदों का भी यही क्रम है। वहाँ भी प्रथम कर्म, मध्य में उपासना और अन्त में ज्ञान कहा गया है। इस क्रम से ठीक तृतीय षट्क ज्ञान का है। वहाँ ज्ञान प्रधान और अन्य कर्म तथा भक्ति गौण हैं। अतः ज्ञानप्रकरण में ही उक्त श्लोक है। भगवान् ने समस्त गीतोक्त अर्थ को संक्षिप्त रूप से कहने के लिए दो श्लोकों का उपक्षेप किया है। सामान्य रूप से गीता में ज्ञाननिष्ठा और कर्मनिष्ठा से दो ही निष्ठाएं कही गई हैं। भक्ति कर्मनिष्ठा के ही अन्तर्गत है, क्योंकि भगवच्चरणाम्बुजसमर्पणबुद्ध्या स्वधर्मानुष्ठान ही मुख्य भक्ति है।

"स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः"—

—गी० १८।४६

उनमें प्रथम निष्ठा का उपसंहार—

"मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥"

—गी० १८।६५

इस श्लोक से किया है। तथा दूसरी ज्ञाननिष्ठा का उपसंहार

"सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥"

—गी० १८।६६

इस श्लोक से किया है। ऐसा होने से ही इस श्लोक को

सारभूत भी कहा जा सकता है। उपसंहार भी कहा जा सकता है। फिर जब कि भक्ति पहले श्लोक से कही जा चुकी तब दूसरे श्लोक से उसके कहने की आवश्यकता भी क्या है ? अतः ठीक-"सर्वधर्मान्परित्यज्य···" यह श्लोक ज्ञाननिष्ठा के ही उपसंहार का निर्देशक है।

अस्तु, आगे चलकर फिर आपने कहा है कि "शरण शब्द का अर्थ 'स्वधर्मानुष्ठान सहितभगवत्परायणता' नवम के 'मन्मना' श्लोक से सिद्ध होती है।" यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि उक्त श्लोक में 'शरण' शब्द का अर्थ कहा गया है इसमें कोई प्रमाण नहीं। फिर भी यदि ऐसा ही मानें, तो भी इस श्लोक से शरणागति कहने की क्या जरूरत थी। बात यह है कि भगवान् ने गुह्यतम तत्त्वकथन की प्रतिज्ञा करके 'मन्मना भव' और 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' इन दो श्लोकों को कहा है। प्रथम से 'मद्याजी' आदि द्वारा कर्म का सूचन किया है। क्योंकि कर्म से ही भगवान का भजन (अर्चन) होता है। 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य'। एवम् दूसरे से कर्मत्यागपूर्वक शरण का संकेत किया है। अर्जुन ने प्रथम आज्ञा का पालन किया है। यद्यपि जब कि गुह्यतम तत्त्व के कथन की प्रतिज्ञा करके जिस तत्त्व का भगवान् निरूपण कर रहे हैं वे दोनों ही तत्त्व प्रथम ही कहे जा चुके हैं। कारण, नवम के "मन्मना भव" इत्यादि से तथा 'तमेव शरणं गच्छ' इत्यादि से वेही बातें कही गई हैं जो यहाँ गुह्यतम रूप से कही जा रही हैं। फिर वही तत्त्व यहाँ गुह्यतम कैसे हो गया है ? तथापि यहाँ भाव यह समझना चाहिए कि जैसा श्री भागवत माहात्म्य में प्रसंग

है—अतिक्षीण ज्ञान वैराग्यरूप पुत्रों के साथ संतप्त भक्ति के शोक-नाश के लिए श्री नारदजी ने ज्ञान वैराग्य को प्रबुद्ध करने के लिए वेद, उपनिषद्, गीतादि शास्त्रों का उन्हें श्रवण कराया, किंतु उनका प्रबोध नहीं हुआ। अनन्तर देववाणी से ऋषि को सत्कर्म करने का आदेश मिला। सत्कर्म का अर्थ सनकादिकों से श्री मद्भागवत श्रवण समझकर नारद ने प्रश्न किया कि भागवत के तो पद पद में वेदार्थ ही है; यदि वेदोपनिषदादि से इनकी निद्रा नहीं गई, तो भागवत से कैसे जायगी? इसका उत्तर सनकादिकों ने कहा है कि ठीक है, भागवत में वेदोपनिषदादि के ही अर्थ हैं, तथापि जैसे इक्षुखण्ड में मधुरिमा व्यापी होकर रहती है तब उस प्रकार का स्वाद नहीं आता जैसा कि शर्करा सितारूप में व्यक्त उसी मधुरिमा में स्वाद का अनुभव होता है। वैसे ही वेदादि में वह प्रबोधकता उतनी व्यक्त नहीं है जितनी कि वेदादि के ही सा-रभूत भागवत में व्यक्त है। ठीक वैसी ही बात यहाँ भी है। यह गुह्यतमतत्त्व गीतारूप ज्ञानशास्त्र का ही है; तथापि पूर्वाध्यायों में वह मिश्रित होने के कारण ऐसा सुग्राह्य तथा स्वादु नहीं है जैसा कि निष्ठाद्वयपर्यवसित गीताज्ञानशास्त्रनिःसृत नवनीतस्थानीय यह गुह्यतमतत्त्व सुग्राह्य एवं सुस्वादु है। क्योंकि वहाँ जैसे व्यापी इक्षुखण्ड की मधुरिमा शर्करा सितारूप में व्यक्त है, वैसे ही गी-ताव्यापिनी कर्मनिष्ठासहित ज्ञाननिष्ठा यहाँ सुस्फुट सुग्राह्य स्वादु-रूप में व्यक्त है। साधन कर्मनिष्ठा का सार प्रथम श्लोक से, सा-ध्यभूत ज्ञाननिष्ठा का सार द्वितीय श्लोक से व्यक्त होकर ठीक ही गुह्यतम शब्द से कहने योग्य है।

यह भी देखना चाहिए कि पहले 'तमेव शरणं गच्छ' इन

श्लोक से भी शरणागति कही गई है, और 'मामेकं शरणं व्रज' इससे भी यही कही गई है। इस पर विचार उत्पन्न होता है कि 'तमेव शरणं गच्छ' वाली ही शरणागति 'मामेकं शरणं व्रज' से भी कही गई है या इन दोनों की शरणागति परस्पर भिन्न भिन्न हैं। यदि उभयत्र एक ही शरणागति का कथन है, तब तो यदि उसी का सार कथन यहां न मानें, तो पुनरुक्तिप्रसंग होगा। और दूसरी बात यह है कि 'तमेव शरणं गच्छ' इसी श्लोक के आगे-

"इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण................." गी० १८:६३

इत्यादि से शरणान्त गीताशास्त्र को ज्ञानशास्त्र कहा है। यह तभी ठीक हो सकता है जब यहाँ कर्मनिष्ठासहित ज्ञाननिष्ठा का वर्णन माना जाय। इस प्रसंग में इसी विचार से गीता का सारभूत गुह्यतमतत्त्व उक्त इन दो श्लोकों से कहा गया है। इनमें पहले श्लोक से अङ्गभूत कर्मनिष्ठा का और दूसरे से अङ्गीभूत ज्ञाननिष्ठा का वर्णन किया गया है। ऐसी दशा में जब कि दो भिन्न भिन्न श्लोकों से सुस्फुट भिन्न भिन्न निष्ठाएँ कही जा रही हैं, तब केवल ज्ञाननिष्ठाप्रतिपादक सारभूत इस 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' श्लोक को भक्तिप्रकरणगत कैसे कह सकते हैं ?

एवंच यदि दोनों श्लोकों से भिन्न भिन्न ही शरणागति कही गई है, तब भी प्राथमिक शरणागति भेदभाव की तथा द्वितीय शरणागति अभेदभाव की ही होगी। इससे भी अभेदज्ञानरूपा द्वितीय शरणागति ही ज्ञानशास्त्र का सार होना उचित है। हाँ यह भी कहा जा सकता है कि 'शरण' शब्द का भेदभाव से भग-

त्परायणतारूप 'अपराभक्ति' भी अर्थ होना संभव है जो कि भगवत् प्रसन्नता से भगवत्स्वरूप अपरोक्षता में उपयुक्त होता है। परन्तु ज्ञानशास्त्र के सारभूत श्लोक में आई हुई शरणागति 'सोऽहमित्येव निश्चयः' के अनुसार मुख्य तृतीय अभयहेतु प्रत्यक्चैतन्याभिन्न निर्विशेषतत्त्व का पालकत्वेन वरण या परमाश्रयत्वेन निश्चयरूप ज्ञान ही है। प्रपत्ति के विषय में भी 'सकृदेव प्रपन्नाय', इत्यादि में ज्ञानरूपा प्रपत्ति ही प्रथमांश का अभिप्राय है। इसी वास्ते यह अभययाचनरूप भेदभावेन समाश्रयणरूप "तवास्मीति च याचते" इस द्वितीय अंश का तात्पर्य है।

सिद्धान्ततः शरण शब्द का अर्थ भीत पुरुष का किसी को आश्रयत्वेन या रक्षकत्वेन वरण होता है। कोश में लिखा है 'शरणं गृहरक्षित्रोः' तथा च श्लोक का सीधा अर्थ होता है—'मुझ एक अद्वितीय परमात्मा को ही अपना आश्रय जानो' क्योंकि गत्यर्थक व्रज् धातु के लोट् का रूप 'व्रज' है। गति का अर्थ ज्ञान भी होता है। अब रहा यह कि भेदभाव से आश्रय जानना या अभेदभाव से, इस पर स्पष्ट बात यह है कि अद्वितीय असंग निरवयव परमात्मा में वास्तविक आश्रयाश्रयिभाव बनता नहीं। अतः जैसे घटाकाश का आश्रय महाकाश है, वैसे ही जीव का आश्रय परमात्मा है। जीव का निश्चयपूर्वक ऐसा जानना कि—यथा घटाकाश का परमाश्रय महाकाश ही है—महाकाश से व्यतिरिक्त घटाकाश ठहर सकता ही नहीं। वैसे ही मेरा परमाश्रय पूर्णब्रह्म परमात्मा ही है। उससे व्यतिरिक्त मैं कुछ हूँ ही नहीं, कहीं ठहर सकता ही नहीं। अतः जैसे महाकाश से घटाकाश पृथक् नहीं है, ठीक उसी तरह मैं परमात्मा से पृथक् नहीं हूं, किंतु वही हूं। यही शरणागति है।

यदि शरण का दूसरा अर्थ 'रक्षकत्वेन वरण' किया जाय तब भी संसारसंतप्त जीव का पूर्ण परमात्मा को ही स्वपालकत्वेन वरण करना शरणागति होती है। यह वरण भी परमात्मा में अभेदभाव से ही बनता है, क्योंकि 'द्वितीयाद्वै भयं भवति' के अनुसार भेदभाव में भय है। अतः 'नैनमविदितो देवो भुनक्ति' अर्थात् 'आत्मरूप से अविदित परमात्मा साधक का पालन नहीं करता' के अनुसार अपने प्रत्यक् चैतन्य से अभिन्न सर्वविधभेदशून्य परमात्मा का ही संसारभय से रक्षकत्वेन स्वीकरण शरणागति है। यदि कहा जाय कि अभेद में पालकत्व नहीं बनता, तो यह भी नहीं है, क्योंकि 'आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुः' इत्यादि स्थलों में अपने को ही अपना मित्र और शत्रु बताया है।

प्रपत्तिरूप शरणागति का भी अन्तिम अर्थ यही है, क्योंकि प्रकृष्ट प्राप्ति को प्रपत्ति कहते हैं। और वह प्रत्यगभिन्न परमात्मा की ही प्राप्ति है, इसी लिए—

"तस्यैवाहं ममैवासौ सोऽहमित्येव निश्चयः"

इस श्लोक में पहली दो प्रपत्तियों को साधन और अन्तिम को साध्यरूपा मुख्यप्रपत्ति या शरणागति बताया है।

लेखक ने एक और भी अपूर्व कल्पना कर रखी है। वह यह है कि जहाँ कहीं गीता में 'माम्' पद आता है, वहाँ सगुण ही भगवान् विवक्षित हैं, निर्गुण नहीं; यह भी उचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि 'अस्मद्' शब्द का 'माम्' यह रूप है। उसी का 'मया' भी रूप है। वह निर्गुण में भी आता है। जैसे—

"मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।" —गी० ९।४

कदाचित् आप कहें कि केवल 'माम्' पद सगुण के लिए आता है ऐसा मान लेगें, तो भी यह ठीक नहीं। क्योंकि भगवान् जब सगुण और निर्गुण दोनों ही हैं, तब इसमें क्या प्रमाण है कि सगुण को ही 'अस्मद्' शब्द से 'माम्' 'अहम्' पद में व्यवहृत करें। इसके अतिरिक्त निर्गुण के लिए भी 'अस्मद्' शब्द का प्रयोग देखा जाता है। जैसे—

'अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः'
—गी०१०।२०

तथा—'ते प्राप्नुवन्ति मामेव'
—गी० १२।४

इत्यादि स्थलों में निर्गुण में ही 'अहम्' और 'माम्' पदों का प्रयोग किया गया है। कारण कि ऐसे स्थलों में—

"येत्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥"
—गी० १२।४

इत्यादि से निर्गुणोपासना की ही चर्चा है।

साथ ही यह भी एक स्पष्ट बात है कि जो जिसकी उपासना करता है वह उसे ही प्राप्त करता है। निर्गुणोपासक अपने उपास्य निर्गुण को प्राप्त करता है। सगुणोपासक सगुण को प्राप्त करता है। इसके विपरीत वह किसी अन्य को प्राप्त नहीं कर सकता।

एवं च अन्यदेवोपासक भगवान् को प्राप्त नहीं कर सकता, किन्तु भगवदुपासक ही भगवान् को प्राप्त करता है। कहा भी है—

'देवान् देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि।'
—गी० ७।२३

इसी प्रकार निर्गुणोपासक से प्राप्य भगवान् निर्गुण ही हैं। इसीलिए 'ते प्राप्नुवन्ति मामेव' में निर्गुणोपासक-प्राप्य भगवान् निर्गुण ही हैं, और वेही 'मां' पद से यहाँ कहे गये हैं।

अस्तु, अब परम-सिद्धान्तभूत द्वितीय पक्ष का विचार करते हैं। द्वितीय पक्ष का विचार करते हुए आपने लिखा है—'अर्जुन ने भगवदाज्ञा से युद्ध ही किया, एकान्तसेवन नहीं किया, अतः स्वरूप से समस्त धर्मों के त्याग में भगवान् का अभिप्राय नहीं।'

इस पर आपसे कोई पूछे कि भगवान् का यह अभिप्राय नहीं, यह बात आपने कैसे जान ली? भला स्पष्ट भगवद्वाक्यों से प्रतीयमान अर्थ में जब भगवान् का तात्पर्य नहीं तब आपके कल्पित अर्थ में भगवान् का तात्पर्य कैसे हो सकता है? स्पष्ट वाक्य है—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज"

—गी० १८।६६

और सीधा अर्थ है "सब धर्मों को त्यागकर मुझ एक को ही शरण जान, या मुझ एक की ही शरण प्राप्त कर"।

अब रहा यह कि फिर अर्जुन ने सब धर्म क्यों नहीं छोड़ा? युद्ध क्यों किया? इसका उत्तर यह है कि क्रमशः आज्ञापालन उचित होता है। पहले जो आज्ञा मिली उसका पहले पालन कर लिया जाय; तभी न दूसरी आज्ञा पालित की जाय! जैसे किसी प्रयोजक ने प्रयोज्य को आज्ञा दी—'अन्नं गृहाण' 'गच्छ' 'पच' 'भुंक्ष्व' 'स्वपिहि' अर्थात् अन्न लो, जाओ, बनाओ, खाओ और सो जाओ। ऐसी दशा में सब आज्ञाएँ सम-काल में पालित नहीं हो सकतीं, अतः

उनमें क्रम अपेक्षित रहता है। इसी लिए प्रयोज्य की प्रथम आज्ञा में प्रवृत्तिमात्र के देखने से यह नहीं कहा जा सकता कि स्वामी ने अन्य आज्ञाएँ नहीं दीं। अर्थात् यहाँ पर यह समझना कि भृत्य तो भोजनव्यापार में व्यग्र है सोया नहीं, अतः उसने स्वामी की सभी आज्ञाएँ नहीं मानी, यह ठीक नहीं; क्योंकि क्रमपूर्वक ही सब आज्ञाएँ पालित की जा सकती हैं।

इसी तरह भगवान् ने अर्जुन के लिए 'कुरु कर्मैव' 'कर्मण्येवाधिकारस्ते···' और 'मन्मना' 'मद्भक्तो' 'मद्याजी···' आदि वचनों से पहले भगवदाराधनबुद्ध्या स्वधर्मानुष्ठान कर्तव्य बतलाया, तथा अन्त में सर्वकर्मसंन्यासपूर्वक शरणागति बतलाई। यहाँ 'कुरु और 'शरणं व्रज' दोनों ही मध्यम पुरुष के लोट् लकार के रूप हैं अतः दोनों ही आज्ञाएँ हैं। ऐसी स्थिति में एककालावच्छेदेन कर्मानुष्ठान और कर्मसंन्यास दोनों नहीं संपादित किये जा सकते अतः क्रम अवश्य मानना पड़ेगा। वह क्रम पहले कर्मानुष्ठान तदनन्तर कर्मत्यागरूप से उचित है। सर्वकर्मत्याग के अनन्तर कर्मानुष्ठान पातित्य का प्रयोजक है। 'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा' इस श्रुति से भी कर्मानुष्ठान स्वाभाविक पाशविक-काम-कर्म-ज्ञान-लक्षण मृत्यु के व्यतितरण का साधन माना जाता है। अभिप्राय यह है कि जैसे नौका की आवश्यकता नदी पार करने के लिए होती है; नदी पार हो जाने पर नाव को छोड़ देना अनुचित नहीं। ठीक इसी प्रकार से अन्तःकरणशुद्धिपूर्वक योगारोहण का साधन होने से कर्म उपादेय है। उसके सिद्ध हो जाने पर उसका त्याग, स्वरूप से भी

अनुचित नहीं है।

इसी लिये भगवान् ने भी आरुरुक्षु के लिए कर्मयोग की उपादेयता और आरुढ़ के लिए शम की उपादेयता बतलाई है-

"आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥"

—गी० ६।३

एवं च योगारुढ़ के लिए 'सर्वारम्भपरित्यागी' 'अनिकेतः' आदि से संन्यास का ही प्रतिपादन किया है ।

अतः उक्त 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' का पूर्वापरप्रकरणाविसंवादी शास्त्रसंमत सीधा अर्थ यही होता है कि 'मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी' के अनुसार अपने वर्णाश्रम मार्ग से श्रौत स्मार्त धर्मानुष्ठान द्वारा मुझ सर्वान्तरात्मा भगवान् की उपासना से विशुद्धान्तःकरण तथा सर्वैषणाविनिर्मुक्त होकर सर्वकर्मसंन्यासपूर्वक मुझ एक प्रत्यक् चैतन्याभिन्न परमतत्त्व का पालकत्वेन और आश्रयत्वेन समाश्रयण करो ।

यदि अर्जुन संन्यास का अधिकारी नहीं था, तो उसे संन्यास की बात नहीं बतानी चाहिए थी यह नहीं कह सकते, क्योंकि अन्य अधिकारियों के लिए यह उक्ति सफल है । इसके अतिरिक्त केवल अर्जुन ही के लिए तो गीता नहीं है, अपितु वह अर्जुन के व्याज से सर्वप्रकार के अधिकारियों के लिए तत्तद्धर्म के प्रदर्शनार्थ कही गई है । अन्यथा परस्पर विरुद्ध बातें एक काल में करने के लिए एक अधिकारी को कैसे कही जा सकती हैं ?

इसके सिवाय यह रीति भी देखी जाती है कि शरणागत शिष्य

को आचार्य आरम्भिक साधन से लेकर अन्तिम साधन तक का उपदेश एक साथ ही करते हैं, परंतु इसके अर्थ यह नहीं होते कि शिष्य उन सभी साधनों का एक काल में ही अनुष्ठान करे, अपितु योग्यता के अनुसार ही उनका अनुष्ठान किया जाता है। यदि इस जन्म में योग्यता नहीं हुई, तो उपदेशानुसार लक्ष्य निश्चित हो जाने पर जन्मान्तर में भी उपदिष्ट अर्थों का अनुष्ठान संपन्न होता है। जैसे साधन पञ्चक में भगवान् भाष्यकार एक काल में ही साधक के लिए अनेक साधन कहते हैं—

"वेदो नित्यमधीयतां तदुदितं कर्म स्वनुष्ठीयताम्।
तेनेशस्य विधीयतामपचितिः काम्ये मतिस्त्यज्यताम्॥
पापौघः परिधूयतां भवसुखे दोषोऽनुसंधीयताम्।
आत्मेच्छा व्यवसीयतां निजगृहात्तूर्णं विनिर्गम्यताम्॥
'कर्माशु संत्यज्यताम्' इत्यादि॥"

परंतु क्या इन सभी का अनुष्ठान एक काल में हो सकता है? कदापि नहीं; किंतु उपदेशपद्धति यही है। अनुष्ठान इसी जन्म में या जन्मान्तर में योग्यता होने पर ही हो सकेगा। अतः सर्वकर्मत्याग का उपदेश कर्मानुष्ठान के साथ ही होने पर भी अर्जुन योग्यतानुसार कर्म में प्रवृत्त हुए। भागवतादिशास्त्रविश्वासियों के लिए कहना न होगा कि अन्त में योग्यतानुसार क्षत्रियोचित वीर संन्यास करके अर्जुन ने अन्तिम आज्ञा का भी पालन किया ही है।

अन्त में हम कल्याण के उक्त लेखक एवं संपादक से कल्याणकामनया यह कहकर अपने वक्तव्य को अवसित करते

हैं कि आप इस प्रकार के शास्त्रसंबन्धशून्य और अविचारित रमणीय लेखों को लिख या प्रकाशित करके भोले भाले लोगों को विमार्ग में न डालिए, परमार्थ को न बिगाड़िए, एवं ईश्वर को अपने और दूसरों के लिए अप्रसन्न मत कीजिए। यदि आप को इस आलोचन के पढ़ने से इस विषय में कुछ शङ्का हो, तो हमसे सविचार पूछ सकते हैं। समाधान के लिए हम सर्वदा प्रस्तुत हैं।



इतिहास पुराणाद्यध्ययनाधिकार विचार

इतिहास पुराण गीता आदिके अध्ययन में उपनीत त्रैवर्णिक व्यतिरिक्त शूद्र अन्त्यज आदिका अधिकार नहीं है। इस पर कुछ लोगों का यह कहना है कि "इति भारतमाख्यानं कृपया मुनिना कृतम्" इस भागवतके वचन से तो ज्ञात होता है कि इतिहासपुराणों की तो सृष्टि ही स्त्री तथा शूद्रों के लिए है फिर उनका उनके अध्ययन में अधिकार क्यों नहीं, परन्तु यह कथन ठीक नहीं है, कारण कि वहां स्त्री शूद्र आदि को धर्मादि ज्ञान होने ही के लिए भारत आख्यान के निर्माण का प्रसंग आया है। और वह ज्ञान श्रवण से भी हो सकता है, अध्ययन से भी हो सकता है। परन्तु जब अन्यत्र अध्ययन का निषेध स्पष्ट वाक्यों में पाया जाता है तब यही सिद्ध होता है कि श्रवण से ही ज्ञान सम्पादन करना उचित है। जैसे—

स्त्री-शूद्र-द्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा।
कर्म श्रेयसि मूढानां श्रेय एवं भवेदिह॥
इतिभारतमाख्यानं कृपया मुनिना कृतम्।
दृश्यते यत्र धर्मादि स्त्रीशूद्रादिभिरप्युत॥

अर्थात् "स्त्री शूद्र और द्विजबन्धु याने व्रात्य त्रैवर्णिक को त्रयी पद वाच्य वेदराशि श्रुतिगोचर (श्रवणजन्य ज्ञान का विषय) नहीं होती। अर्थात् उन्हें वेद श्रवण का अधिकार नहीं है, अतः उन्हें

भी जिससे स्वधर्म एवं ब्रह्म का बोध हो इसी लिये भगवान् व्यास ने कृपा कर भारत का निर्माण किया है "न श्रुतिगोचरा" के सम्बन्ध से यह बात सहज ही में जानी जा सकती है कि उन्हें वेदों के श्रवण का अधिकार नहीं था अतः श्रीव्यास ने कृपाकर उनके श्रवणयोग्य इतिहास पुराणों का निर्माण किया। इस तरह प्रसंग वश श्रवण ही सिद्ध होता है, अध्ययन नहीं। अतः शूद्रादि को इतिहासादि के श्रवण का ही अधिकार है, पठन का नहीं।

कोई कहते हैं कि श्रवण पठन में तो कुछ भेद ही नहीं अतः जब श्रवण का अधिकार है तो श्रवण के बाद अध्ययन भी आ ही गया, अध्ययन भी तो श्रवण ही है। परन्तु यह कथन ठीक नहीं है, श्रवण और अध्ययन में भेद है। श्रवण श्रोत्र इन्द्रिय के व्यापार को कहते हैं और अध्ययन वाक् इन्द्रिय के व्यापार को कहते हैं। अतएव सूत्रकार भगवान् व्यासने शूद्रों के लिए वेदों के श्रवण तथा अध्ययन दोनों का पृथक् पृथक् निषेध किया है। "श्रवणाध्ययनार्थ प्रतिषेधात्स्मृतेश्च" (ब्र० सू०) यदि श्रवण और अध्ययन में भेद न होता तो किसी एक ही का नाम लेकर निषेध करना उचित था। दोनों का पृथक् निषेध है; अतः वे अवश्य ही पृथक् हैं। धर्म का विषय अतर्क्य है; यहां क्यों और कैसे इत्यादि कुतर्कों की गुंजाइश नहीं है। धर्म का निर्णय वचन बल से होता है। वचनों से ही ब्राह्मण को वेदादि समस्त शास्त्रों के अध्ययन तथा अध्यापन दोनों में ही अधिकार है, क्षत्रिय वैश्य को अध्ययन मात्र का अधिकार है; अध्यापन का नहीं। शूद्र आदि को वेदों के अध्ययन श्रवण आदि किसी का अधिकार नहीं है, केवल

इतिहास पुराणों के श्रवण का ही अधिकार है। ऐसी व्यवस्था शास्त्रों से सिद्ध होती है।

यहां कुछ साम्प्रतिक परिष्कृत सनातनी कहते हैं कि—

पठन्द्विजो वागृषभत्वमीयात् जनश्च शूद्रोऽपि महत्वमीयात्।
वेदान्तगो ब्राह्मणःस्यात् क्षत्रियो विजयी भवेत्।
वैश्यो धनसमृद्धः स्याच्छूद्रः सुखमवाप्नुयात् ॥

यहां 'पठन्' 'परिकीर्तयेत्' आदि क्रियापदों का चारों ही वर्णों के साथ सम्बन्ध है। अतः ब्राह्मण पढ़े तो वेदान्त पारङ्गत हो, क्षत्रिय पढ़े तो विजयी हो, वैश्य पढ़े तो धन धान्य सम्पन्न हो, और शूद्र पढ़े तो सुखी हो ऐसा अर्थ प्रतीत होता है। कहीं "यश्चैनं शृणुयान्नित्यं यश्चैनं परिकीर्त्तयेत्" इत्यादि स्थलों में सामान्य रूप से "यः" इस पद का प्रयोग देखा जाता है। कहीं "नरः" मानवः ऐसे पद हैं अर्थात् जो भी कोई मनुष्य पढ़ें उसी की सद्गति होती है। इस तरह जब शूद्रों का इतिहास पुराण आदि के अध्ययन में अधिकार सिद्ध है तब फिर इतिहासपुराणादि के अन्तर्गत विविध प्रकार के प्रणव बीज संयुक्त मन्त्रों के जप का अधिकार तो सुतरां सिद्ध है। "शूद्राणाञ्च सधर्माणः सर्वेऽपध्वंसजाः स्मृताः" सभी अपध्वंसजों अर्थात् अन्त्यजों को शूद्रों के समानधर्मी समझना चाहिए। इस उक्ति के अनुसार शूद्र के समान धर्मवाले अन्त्यजों के लिए भी पुराणादि अध्ययन तथा प्रणवादि युक्त मन्त्रों का जप युक्त ही प्रतीत होता है। परन्तु शास्त्रीय दृष्टि से विवेचन करने पर यह पक्ष अत्यन्त शास्त्र विरुद्ध सिद्ध होता है, क्योंकि

शास्त्र वचनों से ही पुराणादि अध्ययन का शूद्र आदि के लि निषेध है। जैसे—

"नाध्येतव्यमिदं शास्त्रं ब्राह्मणक्षत्रियौ विना।
श्रोतव्यमेतच्छूद्रेण नाध्येतव्यं कदाचन।"

यह भविष्य पुराण का श्लोक निर्णयसिन्धु में उद्धृत है। इसका भाव यह है कि "पुराणेतिहासादि सच्छास्त्रों का अध्ययन त्रैवर्णिक के विना अन्य को नहीं करना चाहिए। शूद्र को केवल इसका श्रवण ही करना चाहिए।" इसके सिवाय—

नाध्यापयेद्बुधः शूद्रं तथा नैव च याजयेत्।
इतिहासं पुराणञ्च काव्यं नाटकमेवच।
शूद्रायचोपदेष्टारं द्विजं चाण्डालवत्त्यजेत्।
तेनोपदिष्टो यः शूद्रः स भुक्त्वा नरकान् क्रमात्।
अनेकासु जनित्वा च कुत्सितास्वपि योनिषु।
गृध्रजन्माऽभवत् पश्चाद् गन्धमादनपर्वते।

स्कन्दपुराण के इस वचन से स्पष्ट साबित होता है कि "अभिज्ञजन शूद्र को न पढ़ावें, न यजन करावें। इतिहास पुराण काव्य नाटक कुछ भी शूद्रको पढाना नहीं चाहिये। शूद्र के उपदेष्टा द्विजको चाण्डाल के समान त्यागना चाहिये। उस ब्राह्मण से अपने अधिकार के विपरीत उपदेश प्राप्त करने से शूद्र को भी समस्त नरकों की क्रमशः प्राप्ति हुई उसके पश्चात् अनेक कुत्सित योनियों में जन्म ग्रहण के पश्चात् गन्धमादन पर्वत पर उसे गीध होना पड़ा।" इत्यादि सहस्रों पौराणिक वचनों से शूद्रों को इतिहास पुराणादि

पढ़ानेवाले ब्राह्मण की तथा पढने वाले शूद्र की अनेक प्रकार से दुर्गतियों का वर्णन है, फिर "पठन् द्विजः" इत्यादि वचनों के बल पर शूद्रों के अध्ययन का अधिकार कैसे सिद्ध किया जा सकता है।

इसके सिवाय "पठन्" इत्यादि जो फलवाद वचन हैं वे केवल फल कथन द्वारा पाठादि के प्राशस्त्य का ही बोधन करते हैं, उनका शूद्र के अध्ययन विधान में तात्पर्य्य नहीं है। फलवाद वचनों का तात्पर्य्य विधि की स्तुति द्वारा पुरुष की प्रवृत्ति में उपयोग होता है। विधि-स्तावक अर्थवाद वचनों का तात्पर्य्य स्वार्थमें होता ही नहीं क्योंकि— "आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्" "विधिना-त्वेकवाक्यत्वात्स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः" (जै० सू०) आम्नाय-सकल वेद राशिका क्रिया ही अर्थ है अतः क्रियाभिन्न अर्थ को प्रतिपादन करने वाले वेदांश की व्यर्थता ही है, विधि के साथ एकवाक्यतापन्न होकर अर्थवाद केवल विधि के स्तावक होते हैं, स्वार्थ में उनका तात्पर्य्य नहीं होता" इन न्यायों से फल वचनों का तात्पर्य्य केवल विधि की स्तुति में ही होता है, अतः उक्त फलवाद वचन स्वार्थ में तात्पर्य नहीं रखते अतः अतत्पर हैं, निषेध वचनों का तात्पर्य्य स्वार्थ में ही है अतः वे तत्पर हैं। इसलिए "तत्प्रधानान्यतत्प्रधानेभ्यो बलीयांसि।" "तत्प्रधान याने तत्पर वचन अतत्प्रधान वचनों की अपेक्षा प्रबल होते हैं।" इस नियम से अतत्पर अर्थवाद वचन तत्पर निषेध वचनों से दुर्बल हैं, अतः निषेध विरुद्ध अर्थवाद शूद्रों के अध्ययन का अधिकार नहीं सिद्ध कर सकते।

यद्यपि कहा जा सकता है कि जैसे "प्रतितिष्ठन्ति ह वै ते य एता

रात्रीरुपयन्ति" "वे प्रतिष्ठित होते हैं जो इस रात्रिसत्र याग को करते हैं" इस अर्थवाद वचन के बल पर "प्रतिष्ठाकामा एता रात्रीरुपेयुः" "प्रतिष्ठा कामना वाले रात्रिसत्र करें" ऐसे विधिकी कल्पना कर ली जाती है। वैसे ही "जनश्च शूद्रोऽपि महत्त्वमीयात्" इत्यादि फलवाद वचन से "महत्त्वकामः शूद्रः पुराणादिकं पठेत्" महत्त्व की कामना वाला शूद्र पुराणादि का पाठ करे ऐसे विधि की कल्पना हो सकती है।

परन्तु यह ठीक नहीं है कारण कि फल वचन से जब तक विधिकी कल्पना होगी उसके पहले ही निषेध वचन विरोध में उपस्थित होगें। अतः प्रत्यक्ष निषेध वचन की अपेक्षा कल्पित विधि-वचन अत्यन्त दुर्बल होंगे। इसी प्रकार के उदाहरण पूर्व-मीमांसकों के यहां प्रसिद्ध हैं। तथाहि-"कदाचन स्तरीरसि नेन्द्र सश्चसि दाशुषे" "हे इन्द्र! आप कभी हम लोगोंके घातक नहीं हैं किन्तु आहुति प्रदान करने वाले यजमान को सदा तृप्त करते हैं" यह ऐन्द्री ऋचा है। इस मन्त्रका अभिप्राय इन्द्र-शब्द-सामर्थ्य से ऐसा मालूम पड़ता है कि इन्द्र देवता की स्तुति इस मन्त्र में है अतः इस ऐन्द्री ऋचा का विनियोग इन्द्र देवता के उपस्थान में करना चाहिए, यद्यपि ऐसा प्रत्यक्ष विधि नहीं है तथापि लिङ्ग (सामर्थ्य) बल से "ऐन्द्र्या इन्द्रमुपतिष्ठेत" ऐसी विधिकल्पना की जा सकती है। परन्तु "ऐन्द्र्या गार्हपत्यमुपतिष्ठेत" इस प्रत्यक्ष श्रुति से ऐन्द्री ऋचा का विनियोग गार्हपत्याग्नि के उपस्थान में ही सिद्ध होता है।

अतः स्वार्थ पर्यवसायी निषेध से उसका बाध ही हो जायगा

जैसे "जर्त्तिलयवाग्वा जुहुयात्, गवेधुकयवाग्वा जुहुयात्' यहाँ पर लिङ् प्रत्यय से जर्त्तिलयवागू के होम की विधि प्रतीत होती है तथापि वह "अनाहुतीर्वा एता जर्त्तिलाश्च गवेधुकाश्च" जर्त्तिला आदि होम के योग्य नहीं हैं" इत्यादि निषेध वचनों से बाधित हो जाती है। क्योंकि 'जर्त्तिलयवाग्वा जुहुयात्' इत्यादि वचन "अजक्षीरेण जुहुयात्" इस विधि के स्तावक अर्थवाद के अन्तर्गत हैं। अतः विधिप्रत्यय होने पर भी अर्थवाद के अन्तर्गत होने से विधान में उनका तात्पर्य नहीं है। किन्तु केवल अजक्षीर होम के प्रशंसन में ही उनका तात्पर्य है। याने चाहे जर्त्तिल यवागूसे होम करे परन्तु पशु होम न करे, सिद्धान्ततस्तु अजाक्षीर होम की ही विधि है।

ठीक इसी तरह यदि लिङादि प्रत्यय से विधि भासित भी हो, तो भी "यत्परः शब्दः स शब्दार्थः" (जिसमें शब्द का तात्पर्य्य हो वही शब्द का मुख्य अर्थ होता है; आपाततः प्रतीयमान अर्थ शब्दार्थ नहीं होता) इस न्याय से निषेध वचन से विरुद्ध अर्थवाद वचन स्वार्थ में पर्यवसित नहीं हैं। अतः फल वचनों के बल पर शूद्रों के लिये पुराणादि पठन की विधि-कल्पना नहीं की जा सकती। हाँ यदि प्रमाणान्तर से विरोध न हो तब भले ही फल वचन का अवान्तर तात्पर्य स्वार्थ में भी होने से विधि की कल्पना ही हो सकती है।

क्योंकि यद्यपि पूर्व मीमांसकों के मत में तो अर्थवादों का तात्पर्य स्वार्थ में बिल्कुल नहीं होता, तथापि उत्तर मीमांसकों के मत में अर्थवाद तीन प्रकार के होते हैं गुणवाद—अनुवाद—भूतार्थवाद।

प्रमाणान्तर विरुद्ध अर्थ का बोधन करने वाले अर्थवाद को गुणवाद कहते हैं। जैसे यूप को आदित्य बोधन करने वाला 'आदित्यो यूपः' यह अर्थवाद गुणवाद है। एवं लोक प्रसिद्ध अर्थ को प्रतिपादन करने वाला अर्थवाद अनुवाद होता है। जैसे लोक में हो अग्नि हिम (शीत) की औषध है यह प्रसिद्ध है, उसे बोधन करने वाले 'अग्निर्हिमस्य भेषजम्' इस अर्थवाद को अनुवाद कहते हैं। तथा मानान्तर से अविरुद्ध और मानान्तर अप्रसिद्ध अर्थ के प्रतिपादन करने वाले अर्थवाद को भूतार्थवाद कहते हैं। 'वज्रहस्तः पुरन्दरः' यह न प्रमाणान्तर विरुद्ध है न प्रमाणान्तर प्रसिद्ध है अतः यह अर्थवाद भूतार्थवाद है। इससे यह स्पष्ट हो गया कि पूर्व-मीमांसकों के मत में तो अर्थवाद से किसी अर्थ का विधान नहीं हो सकता तथापि उत्तर-मीमांसकों के मत में अर्थवादों का स्वार्थ में भी तात्पर्य हो सकता है, यदि वे प्रमाणान्तर विरुद्ध या प्रमाणान्तर सिद्ध अर्थ के प्रतिपादक न हों। परन्तु प्रमाणान्तर विरुद्ध अर्थ को बोधित करने वाला अर्थवाद सर्वथा ही स्वार्थ में तात्पर्य्य नहीं रखता। अत एव—

"अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः।"

("अदर्शनात्मक तम में वे प्रविष्ट होते हैं जो अविद्या (श्रौतस्मार्त कर्म) में निरत हैं, एवम् उनसे भी घोर तम में वे निविष्ट होते हैं जो विद्या (उपासना) में निरत हैं" इत्यादि अर्थवादों का स्वार्थ में तात्पर्य्य नहीं है।

कारण कि 'कर्मणा पितृलोकः' 'विद्यया देवलोकः' (कर्म से पितृ लोक की प्राप्ति होती है, और विद्या से देवलोक की प्राप्ति होती है) इस श्रुति वचन से विद्या अविद्या दोनों ही कल्याण के ही साधन रूप से विहित हैं। भाष्यकार भगवान् शंकर कहते हैं कि 'न हि शास्त्रविहितं किञ्चिदप्यकर्त्तव्यतामियात्' अर्थात् शास्त्र विहित कुछ भी अकर्त्तव्य नहीं हो सकता। यदि विद्या अविद्या यह दोनों ही अनर्थ के हेतु हों तब तो उनकी उपेक्षा ही करनी चाहिए। फिर वे कल्याण के हेतु कैसे हो सकते हैं। अतः पूर्वोक्त अर्थवाद उक्त श्रुति वचन के विरुद्ध होने से केवल गुणवाद है।

इस तरह श्रुति और लिङ्ग का परस्पर विरोध होने पर प्राबल्य दौर्बल्य का विवेचन करना आवश्यक होता है। अतः इसका निर्णय 'श्रुति लिङ्ग वाक्य प्रकरण स्थान समाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्' श्रुति लिङ्ग वाक्य आदि का यदि परस्पर कहीं पर विरोध हो तो उन स्थलों में पूर्व २ प्रबल; उत्तरोत्तर को दुर्बल समझना चाहिए। अर्थात् जैसे श्रुति और लिङ्ग का यदि एक विषय में परस्पर विरुद्ध समवाय होता हो तो पूर्व अर्थात् श्रुति को प्रबल और उत्तर अर्थात् लिङ्ग को दुर्बल समझना चाहिए, क्योंकि अर्थ के विप्रकर्ष होने से अर्थात् विना श्रुतिकल्पना किये लिङ्ग को स्वतन्त्रता से विधान करने की शक्ति तो है नहीं, अतः उसे श्रुति की कल्पना करनी पड़ेगी। जब तक लिङ्ग द्वारा श्रुति की कल्पना की जायगी तब तक निरपेक्ष श्रुति की प्रवृत्ति हो जायगी।

बस इसी न्याय से जब तक फलवाद वचनों के द्वारा रात्रि-

सत्र न्याय से शूद्र के अध्ययन-विधि की कल्पना करेंगे, तब तक प्रत्यक्ष निषेध श्रुति उसका निषेध कर देगी। किम्बहुना जहाँ "यश्चापि परिकीर्त्तयेत्" इत्यादि स्थलों में लिङ् प्रत्यय से कल्पना निरपेक्ष स्पष्ट विधि प्रतीत होती है वहाँ पर भी उसका फल वचन से प्ररोचना में ही तात्पर्य है। स्वार्थपर्यवसित निषेध वचन लिङ्गादि से प्रबल होते हैं। अतएव यद्यपि छान्दोग्योपनिषद् की संवर्ग विद्या में सयुग्वा रैक्व ने राजा जानश्रुति को "अहहारे त्वा शूद्र" इत्यादि वाक्य में शूद्र शब्द से संबोधित किया है अतः शूद्र शब्द प्रयोग से लिङ्ग द्वारा कल्पना की जा सकती थी कि जिसे महर्षि ने शूद्र शब्द से संबोधित किया उसे ही संवर्ग विद्या का उपदेश किया है अतः शूद्र जातिका भी संवर्ग विद्या में अधिकार है। तथापि "पद्यु ह वा एतच्छ्मशानम्" शूद्र जंगम श्मशान है। "तस्मात्तस्य समीपे नाध्येतव्यं भवति" "न शूद्रजन सन्निधौ" "शूद्र के समीप अध्ययन नहीं करना चाहिये" इत्यादि शास्त्र वचनों से शूद्र के लिये बादरायण ने "श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात्" इत्यादि सूत्र से श्रवण अध्ययनादि का निषेध निर्णीत किया है। अतः जानश्रुति को क्षत्रिय सिद्ध करके शूद्र शब्द को "शुचा द्रवतीति शूद्रः" ऐसा अर्थ किया है अर्थात् यहाँ शूद्र पद से शूद्र जाति विवक्षित नहीं है किन्तु राजा जान श्रुति हंसों के तिरस्कारमय वचनों को श्रवण करके शोक से संयुग्वारैक्व के पास आया था इसी वास्ते महर्षि ने अपनी सर्वज्ञता व्यक्त करने के लिये उस वाक्य में जानश्रुति को शूद्र शब्द से संबोधित किया इस तरह की क्लिष्ट कल्पना से शूद्र शब्द को क्षत्रियपरक साबित किया है। यदि निषेध वचनों का प्राबल्य न होता तो लोक प्रसिद्ध शूद्र शब्दार्थ को त्याग कर ऐसी क्लिष्ट कल्पना क्यों की जाती।

इससे सिद्ध होता है कि निषेध वचनों के साथ विरोध होने से अर्थवादप्राय वचनों से शूद्रों के पुराणादि पठन का अधिकार सिद्ध नहीं किया जा सकता।

'नाध्यापयेद् बुधः शूद्रं शास्त्रं व्याकरणादिकम्।
इतिहासं पुराणञ्च काव्यं नाटकमेव च ॥ (स्कान्दे)

(विद्वान् पुरुष शूद्रको व्याकरणादि शास्त्र, इतिहास, पुराण एवम् काव्य नाटक भी न पढ़ावें)। यहाँ से लेकर

'ततो वैवस्वतैर्नीत्वा पातितो नरकेष्वपि,

(यमराज के दूतों ने शूद्रों के उपदेशक को ले जाकर नरकों में गिरा दिया)

तेनोपदिष्टो यः शूद्रः स भुक्त्वा नरकान् क्रमात्।
अनेकासु जनित्वा च कुत्सितास्वपि योनिषु ॥
गृध्रजन्माऽभवत् पश्चाद् गन्धमादनपर्वते ॥ (स्कान्दे)
श्रोतव्यमेतच्छूद्रेण नाध्येतव्यं कदाचन।"

(उससे उपदिष्ट वह शूद्र भी क्रमशः अनेक नरकोंका भोग करके और अनेक कुत्सित योनियों में जन्म लेकर गन्धमादन पर्वत पर गृध्र हुआ।)

(शूद्र को पुराण इतिहास सुनना ही चाहिये, पढ़ना नहीं)

श्रौतं स्मार्तञ्च वै कर्म प्रोक्तमस्मिन्नृपोत्तम।
तस्माच्छूद्रैर्विना विप्रान्न श्रोतव्यं कदाचन ॥

(हे महाराज ! पुराण और इतिहास में बहुत सा श्रौत और स्मार्त कर्म कहा गया है इसलिये ब्राह्मणों के बिना शूद्रों को इसे न सुनना चाहिए अर्थात् ब्राह्मणों को बैठा कर ही सुनना चाहिए।)

इत्यादि वचनों से शूद्रादि के अध्यापक तथा अध्येता दोनों की दुर्गति का वर्णन किया गया है।

इस तरह उपक्रम उपसंहार तथा अभ्यास आदिसे निषेध वचनों का स्वार्थ में तात्पर्य है, फल वचन का स्वार्थ में तात्पर्य नहीं है, अतः निषेध वचन तत्पर हैं, फल वचन अतत्पर हैं, अत अतत्पर फल वचन की अपेक्षा तत्पर निषेध वचन प्रबल हैं।

कुछ लोगों का यह कहना कि जिस ग्रन्थ में 'पठन' पद की अनुज्ञा है उसमें यदि निषेध होता तो 'पठन' का संकोच होना उचित नहीं है, क्योंकि 'कदाचन स्तरीरसि नेन्द्र सश्चसि दाशुषे' इस मंत्र भाग में स्थित वाक्य से इन्द्र-प्रकाशन-सामर्थ्य रूप लिङ्ग द्वारा इन्द्रोपस्थान प्रतीत होने पर भी 'ऐन्द्र्या गार्हपत्यमुपतिष्ठेत' इस ब्राह्मण ग्रन्थान्तर से मीमांसक लोग इन्द्र पद को क्लिष्ट कल्पना द्वारा गार्हपत्य अग्निपरक मानते हैं। ठीक इसीतरह ग्रन्थान्तर के निषेध से भी ग्रन्थान्तर के पठन का संकोच हो सकता है।

कुछ महामतियों का कहना है कि-

'अध्येतव्यं न चान्येन ब्राह्मणक्षत्रियौ विना।
श्रोतव्यमेतच्छूद्रेण नाध्येतव्यं कदाचन॥'

(ब्राह्मण और क्षत्रिय को छोड़कर औरों को इसका अध्ययन नहीं करना चाहिये, शूद्र को तो इसे सुनना ही चाहिये, अध्ययन कदापि नहीं करना) इस वाक्य में वैश्य के लिये भी इतिहास-पुराणादि का अध्ययन निषिद्ध कहा है, यह निषेध वेद विरुद्ध है कारण कि वैश्यों के लिये तो वेद के अध्ययन तथा अर्थानुष्ठान

का पूर्णाधिकार अन्य वाक्यों से सिद्ध है। अतः सिद्ध होता है कि ये सब निषेध वचन क्षेपक हैं। परन्तु उनका ऐसा कहना साहस मात्र है। क्योंकि कौन वचन क्षेपक हैं कौन नहीं इस विषय में विशेष प्रमाण न होने से सर्वत्र ही अविश्वास होना सम्भव है। अर्थात् उन्हीं स्कन्द आदि पुराणों से अपने पक्ष सिद्ध करने के लिए समुद्धृत आप के वचन क्षेपक नहीं तो यह वचन क्यों क्षेपक! आपाततः ज्ञात विरोध से किसी वचन को यदि क्षेपक मान लिया जाय तो—

'मां हि पार्थ! व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥'

(हे अर्जुन! स्त्रियाँ वैश्य तथा शूद्र कोई भी पापयोनि मेरी शरण में आ कर परमगति को प्राप्त होते हैं)

गीता के इस वचन में 'यत्' और 'तत्' शब्द के अन्तःपाती होने से आपाततः वैश्य की पापयोनिता प्रतीत होती है। इसलिये—

'तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वाऽथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा शूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा'

(छा० ५—१०—७)

(इस संसारमें उत्तम आचरण करने वाले शीघ्र ही उत्तम योनि को ब्राह्मण योनि को क्षत्रिय योनि को वैश्य योनि को पाते हैं और निन्दित आचरण करने वाले शीघ्र ही निन्दित योनि को

कुत्ते की योनि को शूकर योनि को और चाण्डाल योनिको पाते हैं।) इस श्रुति से विरोध होने के कारण उक्त गीता का वचन भी क्षेपक सिद्ध हो जायगा, क्योंकि श्रुति वाक्यसे वैश्य पुण्य योनि सिद्ध होता है, गीता वाक्य इसके विरुद्ध वैश्यको पापयोनि बतलाता है अतः गीता का उक्त वचन क्षेपक हो जायगा।

यदि कहा जाय कि श्रुति के साथ अविरोध सम्पादन करने के लिए ही प्रयत्न करना चाहिये इसे क्षेपक कहना ठीक नहीं है तो यहाँ भी 'शरदि वैश्यः' इत्यादि श्रुति से जब वैश्य का वेदार्थ के ग्रहण तथा अनुष्ठान में भी अधिकार सिद्ध होता है तब इतिहासपुराण की तो बात ही क्या है ? अतः पूर्वोक्त श्लोक में 'ब्राह्मणक्षत्रियों विना' को वैश्य का उपलक्षण मानकर 'ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्यान् विना' ऐसा अर्थ करना चाहिये। 'अन्येन' का 'त्रैवर्णिकेतरेण' ऐसा अर्थ करना उचित है, क्यों कि वैश्य में अर्थित्व और लौकिक शास्त्रीय उभय सामर्थ्य है। अतएव वैश्य के लिए गत्यन्तर का अभिधान न करके वाक्यशेष में 'श्रोतव्यमेतच्छूद्रेण' इस वचन से शूद्र में ही शास्त्रीय सामर्थ्य न होने से गत्यन्तराभिधान सङ्गत है। इसी लिये मिताक्षराकार ने भी कहा है–

'त्रैवर्णिकैरेतान्यध्येतव्यानीत्याह, अतएव सर्वत्र स्मृतिषु द्विजानामेव इज्याध्ययनदानानि।'

(पुराण न्यायादि चतुर्दश विद्याओं के अध्ययन का अधिकार त्रैवर्णिक को ही है)

शूद्र के लिए—

विप्रसेवैव शूद्रस्य विशिष्टं कर्म कीर्त्यते'।

(ब्राह्मण की सेवा करना ही शूद्र का श्रेष्ठ कर्म कहा गया है)

परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ।
(गीता)

(ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य की सेवा करना शूद्र का भी स्वाभाविक कर्म है ।)

जैसे—"यस्य ब्रह्म च क्षत्रं चोभे भवत ओदनम्"

इस श्रुति में ब्रह्म क्षत्र शब्द से प्राणिमात्र ओदन रूप में विवक्षित हैं नद्धत् ब्राह्मण क्षत्रियों-से त्रैवर्णिकमात्र विवक्षित हैं ।

अतएव विष्णुसहस्रनाम के 'वेदान्तगो ब्राह्मणः स्यात्" इस श्लोक का व्याख्यान करते हुए श्रीमच्छङ्कर-भगवत्पाद और वैष्णवाचार्यों ने शूद्र का श्रवण में ही अधिकार बतलाया है । एवं धर्मसिन्धु-निर्णयसिन्धुकार ने भी इसी पक्ष को सर्व-सम्मत बतलाया है । इसलिये—

'गतो मार्गोऽनुगम्यते' (वा. रा.)

महाजनो येन गतः स पन्थाः' (म. भा.)

इत्यादि युक्तियों के अनुसार शूद्रों का श्रवण में ही अधिकार निश्चित है पठन में नहीं । अतएव—

"सुगतिमियाच्छ्रवणाच्च शूद्रयोनिः"

"श्रावयेच्चतुरो वर्णान् कृत्वा ब्राह्मणमग्रतः'

इत्यादि स्थलों में भी शूद्र के लिए श्रवण की ही अनुज्ञा है । कुछ महानुभाव 'श्रावयेच्चतुरो वर्णान्' से वेद श्रवण में शूद्रों का अधिकार बतलाते हैं, 'कृत्वा ब्राह्मणमग्रतः' से ब्राह्मण क्षत्रिय

वैश्य और शूद्रों के बैठने का क्रम बतलाया गया है ऐसा कहते हैं किन्तु यह उचित नहीं है क्योंकि परम ऋषि को यदि यही अभीष्ट होता तो वे 'उपवेशयेत्' पद का प्रयोग करते।

'अथ हास्य वेदमुपशृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रप्रतिपूरणम्'

(वेद श्रवण करने वाले शूद्र के कानों को शीशे और लाख से भर देना चाहिये।)

श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात्स्मृतेश्च' (ब्र. सू. १।३।३८)

(इसीलिये ब्रह्मविद्या में भी शूद्र का अधिकार नहीं है क्योंकि स्मृति से उसके लिये वेदश्रवण वेदाध्ययन वेदार्थ के ज्ञान और अनुष्ठान का निषेध है।)

'नाऽविस्पष्टमधीयीत न शूद्रजनसन्निधौ' (मनु.)

(वेद को न तो अस्पष्ट पढ़े और न शूद्र के समीप में पढ़े) इत्यादि अनेक वचन तथा अपशूद्राधिकरण स्पष्टतया शूद्रों के लिए वेद श्रवण का निषेध करते हैं। ऐसी परिस्थिति में यह कैसे कहा जाय कि 'श्रावयेच्चतुरो वर्णान्' वाक्य वेद-श्रवण विषयक है।

'स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा।'

(वेद स्त्री शूद्र और कुत्सित द्विजातियों के कर्णगोचर नहीं हो सकता) इत्यादि।

श्रीमद्भागवत में भी त्रयी (वेद) स्त्री शूद्रादि के कर्णगोचर न होने से-

इति भारतमाख्यानं कृपया मुनिना कृतम्।

"महामुनि वेदव्यासजी ने महाभारत की रचना की। उनके (स्त्री शूद्रादि के) श्रवण-जन्य ज्ञान के लिए इतिहासादि का निर्माण किया" ऐसा बतलाया गया है। अतएव स्वर्गारोहण पर्व के वाक्य में इतिहासादि का स्पष्ट निर्देश करके व्यास भगवान ने स्वयं ही पूर्वापर की संगति लगा दी है।

इससे सिद्ध हुआ कि जो लोग इतिहास पुराण के अध्ययन में शूद्रादि के अधिकार को सिद्ध कर उनके लिये—

'एतत्प्रोक्तं द्विजातीनां स्त्रीशूद्रेषु च यच्छृणु।
द्वादशाष्टाक्षरौ मन्त्रौ तेषां प्रोक्तौ महात्मनाम्॥
तस्मात् सर्वप्रदो मन्त्रः सोऽयं पञ्चाक्षरः स्मृतः।
स्त्रीभिः शूद्रैश्च सङ्कीर्णैर्धार्यते मुक्तिकाङ्क्षिभिः॥
अन्त्यजो वाधमो वाऽपि मूर्खो वा पण्डितोऽपि वा।
पञ्चाक्षरजपे निष्ठो मुच्यते पापपञ्जरात्॥
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः स्त्रियः शूद्रास्तथेतरे।
तस्याधिकारिणः सर्वे सत्वशीलगुणा यदि॥'

(ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्यों के कृत्यों का यह विधान कहा। अब स्त्री और शूद्रों के विषय में जो विधान हैं उनको सुनो। महात्मा लोगों ने उनके द्वादशाक्षर और अष्टाक्षर ये दो मन्त्र लिए कहे हैं।

यह पञ्चाक्षर मंत्र सर्वप्रद कहा गया है इसलिए मुक्ति चाहने वाले स्त्री शूद्र एवम् सङ्कीर्ण जाति वाले इसे धारण करते हैं। अन्त्यज (चाण्डाल) हो चाहे अधम (नीच) हो, मूर्ख हो चाहे पण्डित हो पञ्चाक्षर जप में निष्ठा रखने वाला हो तो पाप

समूह से मुक्त हो जाता है। ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य स्त्रियाँ शूद्र तथा अन्त्यज सभी पञ्चाक्षर मन्त्र के अधिकारी हैं। यदि उनमें आस्तिकता, शील आदि गुण हों।)

इत्यादि श्लोकों से प्रणव सहित अष्टाक्षरादि मन्त्रों की दीक्षा सिद्ध करते हैं किन्तु यह भी पूर्वापर विचार न करने का फल है।

'सावित्रीं प्रणवं यजुर्लक्ष्मीं स्त्री शूद्राय नेच्छन्ति'। (नृ. ता.)

(गायत्री ॐ कार और वेद का स्त्री शूद्र के लिए निषेध करते हैं।)

इस श्रुति से प्रणव का निषेध है। अतः—

'विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानम्'। (जै. सू.)

इस जैमिनीय न्याय से जैसे—"औदुम्बरी सर्वा वेष्टयितव्या" यह कल्पवाक्य "औदुम्बरीं स्पृष्ट्वोद्गायेत्" इस श्रुति से विरोध होने पर अनपेक्ष होता है। वैसे ही "नृसिंहतापनी" की श्रुति से शूद्र के लिए प्रणव के उपदेश का निषेध होने पर प्रणव रहित मन्त्रों के उपदेश में ही उपर्युक्त श्लोकों का तात्पर्य समझना चाहिये।

जो कहते हैं कि वैदिक प्रणव का ही निषेध है पौराणिक प्रणव का निषेध नहीं है सो भी ठीक नहीं क्योंकि आनुपूर्वी के परिवर्त्तन से वैदिक वाक्यों में पौराणिकता होती है, परन्तु प्रणव तो सर्व वेदों का बीज रूप एकाक्षर रूप ही है उसमें परिवर्तन नहीं हो सकता वह सर्वत्र ही वेद है अतएव पञ्चरात्र में नारायण के अष्टाक्षर मन्त्र के अधिकार के विषय में कहा है कि—

'न वेदः प्रणवं त्यक्त्वा मन्त्रो वेदसमुच्छ्रितः ।
न मन्त्रे चाधिकारोऽस्ति शूद्राणां नियमः परः ॥'

(प्रणव वेद है । मन्त्र वेद से उत्पन्न होता है । अतः मन्त्र में शूद्रों का अधिकार नहीं है)

नारद पञ्चरात्र में भी—

ब्राह्मणक्षत्रियविशां पञ्चरात्रं विधीयते ।
शूद्रादीनां न तच्छ्रोत्रपदवीमधिगच्छति ॥

(ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्यों के लिए पञ्चरात्र का विधान है किन्तु वह शूद्रादि के कर्णगोचर नहीं हो सकता)

व्यासस्मृति में भी—

ब्राह्मणक्षत्रियविशस्त्रयो वर्णा द्विजातयः ।
श्रुतिस्मृतिपुराणोक्तधर्मयोग्यास्तु नेतरे ॥
शूद्रो वर्णश्चतुर्थस्तु वर्णत्वाद्धर्ममर्हति ।
वेदमन्त्रस्वधास्वाहावषट्कारादिभिर्विना ॥
व्या. स्मृ. १-५-६

स्वाहाप्रणवसंयुक्तं शूद्रे मन्त्रं ददद्द्विजः ।
शूद्रो निरयमाप्नोति ब्राह्मणः शूद्रतामियात् ॥

(ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य तीन वर्ण द्विजाति हैं वे श्रुति स्मृति और पुराणोक्त धर्म के योग्य हैं और दूसरे नहीं हैं । शूद्र चौथा वर्ण है वह भी वर्ण होने के कारण धर्मानुष्ठान के योग्य है परन्तु उसे वेद मन्त्र स्वधा स्वाहा और वषट्कार आदि के बिना

धर्म करना चाहिये। स्वधा और ओंकार से युक्त मन्त्र को शूद्रों के लिये देता हुआ ब्राह्मण शूद्र हो जाता है, और शूद्र नरक गामी होता है।

व्याससंहिता में भी कहा है—

'शूद्रोऽप्येवंविधः कार्यो विना मन्त्रेण संस्कृतः।
स्त्रीशूद्रयोरमुं दद्यान्मन्त्रं प्रणववर्जितम् ॥
प्रणवोच्चारणाद्धोमात् शालिग्रामशिलार्चनात्।
ब्राह्मणीगमनाच्चैव शूद्रश्चाण्डालतां व्रजेत् ॥

(इसी प्रकार मन्त्र के विना शूद्रों का भी संस्कार करना चाहिए। स्त्री और शूद्रों को भी विना प्रणव के इस मंत्र को देना चाहिए। ओंकार के उच्चारण से होम करने से शालिग्राम की पूजा करने से एवं ब्राह्मणी के गमन से शूद्र चाण्डाल हो जाता है।) अष्टाक्षरादि के प्रकरण में सर्वत्र द्विज का भी संबन्ध है अतः द्विजों को अष्टाक्षर मंत्र का उपदेश देना। और स्त्री आदि को प्रणव रहित ही देना चाहिये।

इसी कारण शूद्र तथा अन्त्यजों के प्रकरण में पञ्चाक्षर मन्त्र ही कहा है।

कुछ लोग—

मन्त्राणां परमो मन्त्रस्तथा शैवः षडक्षरः।
एष पञ्चाक्षरो मन्त्रो जप्तॄणां मुक्तिदायकः ॥

(षडक्षर शैव मन्त्र सब मन्त्रों में श्रेष्ठ है। यह पञ्चाक्षर-मन्त्र जपने वाले को मुक्ति देने वाला है) इस वचन से

षडक्षर की ही संज्ञा पञ्चाक्षर है ऐसा कहते हैं। यह उचित
नहीं है क्योंकि त्रैवर्णिकेतर के लिये—

तस्मात्सर्वप्रदो मन्त्रः सोऽयं पञ्चाक्षरः स्मृतः।
स्त्रीभिः शूद्रैश्च सङ्कीर्णैर्धार्यते मुक्तिकाङ्क्षिभिः॥

(यह पञ्चाक्षर मन्त्र सब मनोवाञ्छित फलों को देने
वाला है अतः मुक्ति की इच्छा रखने वाले स्त्री शूद्र एवं संकीर्ण
जातियों को इसे धारण करना चाहिये।)

इत्यादि उक्त प्रमाणों से शूद्रादि के लिये पञ्चाक्षर ही के जप
का विधान है जोकि प्रणव रहित ही होता है। पूर्व श्लोक में
पञ्चाक्षर को ही जो षडक्षर कहा है वह अपने अपने अधिकारा-
नुसार जपने से दोनों का तुल्य फल है, यह सूचित करने के लिये
है। अन्यथा षडक्षर की ही अनुवृत्ति उचित थी पञ्चाक्षर की उक्ति
व्यर्थ होती। शास्त्रान्तर का विरोध भी पहले कही चुके हैं—वस्तुतस्तु
पूर्वपक्षीने "प्रणवेन विना मन्त्रः सोऽयं पञ्चाक्षरो मतः"
इस अंश को छिपा लिया है, जिससे स्पष्ट प्रणव रहित ही पञ्चा-
क्षर सिद्ध होता है। षडक्षर को ही पञ्चाक्षर सिद्ध करनेवाला
"मन्त्रः स्थितः सदा मुख्यः लोके पञ्चाक्षरः स्मृतः। सर्व-
मन्त्राधिकश्चायमोंकाराद्यः षडक्षरः" यह श्लोक शिवपुराण
का कहा जाता है परन्तु वहाँ है ही नहीं। वस्तुतः "नमस्कारादि
संयुक्तं शिवायेत्यक्षरद्वयं" इस श्लोक के प्रसंग में—"अन्त्यजो
वाधमो वापि" यह श्लोक है जिससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि वहां
प्रणव का बिलकुल सम्बन्ध नहीं है। "आदौ नमः प्रयोक्तव्यं

शिवायेति ततः परम्" इत्यादि से सविस्तर प्रणव रहित को ही पञ्चाक्षर कहा गया है।

हारीत स्मृति में भी सभी मन्त्रों के विधान तथा अधिकारी का प्रश्न उपस्थित होने पर कहा है—

पञ्चसंस्कारसम्पन्नाः श्रद्धावन्तोऽनसूयकाः।
भक्त्या परमयाविष्टा युक्तास्तस्याधिकारिणः॥

(पाँच संस्कारों से युक्त श्रद्धालु किसी से ईर्ष्या न करनेवाले परम भक्त इस के अधिकारी हैं।)

यहाँ पाँच संस्कारों से सम्पन्न को ही दीक्षा का अधिकारी बतलाया है। शूद्रादि के उक्त उपनयनादि संस्कार नहीं होते। अतः उसे दीक्षा में अधिकार ही नहीं है। यदि कहिये कि ऐसी परिस्थिति में उक्त वचन व्यर्थ होगा, सो बात नहीं है क्योंकि गौतम स्मृति में—

'अनुज्ञातोऽस्य नमस्कारान्तो मन्त्रः'

(शूद्र के लिए नमस्कारान्त मन्त्र जपने की अनुज्ञा है) ऐसा कहा गया है। अतः शूद्र का रामायनमः, शिवायनमः इत्यादि मन्त्र में अधिकार है ही। यदि कहिये कि अनुज्ञा अप्राप्त में होती है। 'शिवाय नमः' इत्यादि मन्त्र का अधिकार तो शूद्रों को प्राप्त ही है सो ठीक नहीं है क्योंकि—

'वध्यो राज्ञा स वै शूद्रो जपहोमपरस्तु यः'

(राजा को जप होम परायण शूद्र का वध करना चाहिए) इस अत्रिस्मृति के वचन से शूद्र के लिए जप मात्र

निषिद्ध था और उक्त वाक्य से नमस्कारान्त मन्त्र में उसका अधिकार प्राप्त होता है। अतः उक्त वाक्य व्यर्थ नहीं है। इसी अभिप्राय से कहीं २ शूद्र के लिये भी दीक्षा का प्रसंग आता है।

पूर्व विवेचन से सिद्ध हुआ कि प्रणवादि सहित मन्त्रों की दीक्षा में शूद्रादि का अधिकार नहीं है। वस्तुतः—

मन्त्रं नियतमन्त्राणां यो हीनाय प्रयच्छति।
स वै हीनगुरुर्निन्द्यस्तेन सार्धंपतत्यधः ॥

पञ्चतंत्र।

अर्थात् 'जिसके लिये जो मंत्र नियत है वह मन्त्र उसे ही देना चाहिये, हीन जाति को नहीं। विपरीत करने से गुरु शिष्य दोनों का पतन होता है।' वैदिक मंत्र केवल त्रैवर्णिकों को देना चाहिये। शूद्र को प्रणव रहित तान्त्रिक मंत्र देना चाहिये। अन्त्यजों के लिये भाषामय नाम मन्त्र ही युक्त है। तान्त्रिक मन्त्र भी पवित्र चातुर्वर्ण्य को ही देना चाहिये।

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्या शूद्रा वा शुचयोऽमला।
तेषां मन्त्राः प्रदेया वै न तु संकीर्ण धर्मिणाम् ॥

(नारद पञ्चरात्र)

भाषामय मन्त्र का प्रवचन रूप में उपदेश ही अन्त्यजों की दीक्षा है।

"भाषाख्या लौकिका मन्त्राः प्रपत्यर्थ विभावनाः।
सर्वेभ्यः प्रतिलोमेभ्यो देयाः कामं द्विजातिभिः ॥"

कुछ लोगों का यह कहना कि शास्त्र पक्षपात पूर्ण हैं, यह भी उनका अज्ञान ही है। शास्त्र सब के लिए हित का ही उपदेश

करते हैं। जिसके लिए जो धर्म उपयुक्त होता है; उसके लिए उस धर्मका विधान करते हैं। जो अनिष्टकारक है; उसका निषेध करते हैं। जैसे ब्राह्मण के लिए सुरापान अनिष्टकर है; उसी प्रकार शूद्र के लिए वेदाक्षर-विचार भी अति अनिष्ट कारक है। दोनों के प्रति दोनोंका पृथक् पृथक् निषेध है। इसी प्रकार और वर्णों के लिये भी जो तत्तत् अनिष्टकृत्य हैं उनका भी निषेध है।

धर्म अधर्म में शास्त्र के सिवाय अन्य प्रमाणों की प्रवृत्ति नहीं है। प्राणियों के सुख दुःख तारतम्य से यद्यपि कोई अदृष्ट और उसका फल अनुमित हो जाता है! तथापि त्याग अनुष्ठान के उपयोगी धर्म अधर्म का विशेष रूप से ज्ञान नहीं हो सकता। जैसे-मदिरा के एक बिन्दु-मात्र के पान से ब्राह्मण को नरक निश्चित है, वैसे ही वेदाक्षर के विचार से शूद्र के लिये नरक निश्चित है, यह दोनों ही बातें शास्त्र से ही जानी जा सकती हैं।

अतः भगवान् ने गीता में कहा है कि-

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणन्ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ'।

(इसलिये कर्त्तव्याकर्त्तव्य के निर्धारण में, तुम्हारे लिये शास्त्र ही प्रमाण हैं।

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥

(जो शास्त्र की विधि को छोड़ कर मनमाने वर्त्ताव करता है वह न तो सिद्धि पाता है न सुख और न परम गति) यहाँ शास्त्र पद से श्रुति स्मृति पुराण इतिहासादि समस्त अभिप्रेत हैं।

जैसे माता ईख आदि बच्चे के हाथ से छीन लेती है इस भय से कि कहीं वह उसे आँख आदि में चुभा न ले। और इक्षु के ही दिव्य से दिव्य सार मिश्री कन्द आदि भोज्य पदार्थों को बच्चे के हाथ में दे देती है। ऐसा करने से कोई भी माता को द्वेषी या अनिष्टेच्छु नहीं कह सकता है।

इसी प्रकार हमारे तत्त्वज्ञ महर्षियों ने इतिहास पुराण के श्रवण मात्र से ही शूद्रों का कल्याण कहा है, वेद के पठन से परम अकल्याण कहा है। इतिहास पुराण के भी अध्ययन में हानि समझ कर विद्वान् ब्राह्मणों से श्रवण करने की ही उनके लिये आज्ञा दी, कारण कि स्वयम् अध्ययन से उनका तात्पर्य ठीक न समझने से लाभ के बदले हानि ही हो सकती थी।

देखते ही हैं कि ग्रन्थ चुम्बकों ने पुराणों के मनमाने अटकल पच्चू अर्थ निकाल कर अपना और संसार का सर्वस्व नाश किया है, और आज भी कर रहे हैं।

धर्म अधर्म का देश काल आदि भेद से संकोच विकास सर्वज्ञ महर्षियों द्वारा निर्मित धर्म शास्त्रों का अनुशीलन कर उनके द्वारा निर्दिष्ट मार्ग से ही किया जा सकता है।

ऐसा करने से ही अपना और अपने अनुयायियों का कल्याण हो सकता है। अन्यथा स्वकपोल-कल्पित मनमानी धर्म-व्यवस्थाओं से दोनों का नाश हो जायगा।

कुछ लोग कहते हैं कि इस समय राजनीति में हमारी अवनति हो रही है, विधर्मी लोग अन्त्यजों को प्रलोभन देकर अपना रहे हैं। इससे दिन पर दिन हमारी संख्या का ह्रास हो

रहा है। इसलिये अन्त्यजों को मन्दिर प्रवेशादि अधिकार देकर आधुनिक विपत्ति से बचना चाहिये।

उन महानुभावों से पूछना चाहिये कि आप उपर्युक्त विषय में शूद्रों के लिये शास्त्र-मर्यादित अधिकार देना चाहते हैं या अमर्यादित। यदि अमर्यादित अधिकार देना आपको पसन्द है तो भोजन पान कन्यादान प्रतिग्रह आदि भी उनके साथ हो जाने से सांकर्य हो जायगा। विधर्मी सद्धर्मी भेद—कल्पना ही व्यर्थ हो जायगी। इससे तो यही अच्छा होता कि हिन्दुत्व को ही छोड़कर अन्य बहु-संख्यक सम्प्रदाय स्वीकार कर लिया जाता। संख्या की अधिक वृद्धि होने से राजनैतिक अवनति भी उन्नति रूपमें परिणत हो जायगी। यदि कहिये कि शास्त्र मर्यादित अधिकार देकर हम अछूतों को अपनाना चाहते हैं तो—

'चाण्डालेन तु संस्पृष्टं तत्तोयं पिबति द्विजः।
कृच्छ्रपादेन शुद्ध्येत आपस्तम्बोऽब्रवीन्मुनिः॥'

(चाण्डाल से छुए हुए जल को यदि कोई द्विजाति पीवे तो चौथाई कृच्छ्र व्रत प्रायश्चित्त करने से उसकी शुद्धि होती है। ऐसा आपस्तम्ब मुनि ने कहा है)। इत्यादि अनेक वचनों से उनके स्पर्श आदि का निषेध किया गया है।

अन्त्यजातिरविज्ञातो निविशेद्यस्यवेश्मनि।
स वै ज्ञात्वा तु कालेन कुर्यात्तस्य विशोधनम्॥

आपस्तम्ब स्मृति अन्त्यज का अज्ञात साधारण गृह में प्रवेश हो तो भी शुद्धि करने की आज्ञा देती है फिर मन्दिरों की तो बात ही क्या है।

कुछ लोग कहते हैं कि स्पर्शास्पर्श आदि के विषय में कम से कम उतनाव्यवहार तो अन्त्यजों के साथ में अवश्य हमें करना चाहिये जितना मुसलमान या ईसाइयों के साथ किया जाता है; क्योंकि मुसलमान आदि तो गो-भक्षक हैं और राम कृष्ण गंगा आदि को नहीं मानते हैं। अन्त्यज गोरक्षक हैं, राम कृष्ण आदि के भक्त हैं। परन्तु इसका उत्तर कुछ लोग यह देते हैं कि गो भक्षणादि स्पर्शास्पर्श का मूल नहीं है। क्योंकि सिंह गोभक्षक होता है तो भी स्पृश्य होता है; और गर्दभ दूर्वा-भक्षक होता हुआ भी अस्पृश्य होता है। गंगादि को न मानना भी अस्पृश्यता का मूल नहीं है। सांख्य मीमांसक निरीश्वर-वादी होते हुए भी सर्वथा व्यवहार्य्य होते ही हैं। आपका कोई भ्राता नास्तिक गंगादि को न मानने वाला हो सकता है परन्तु क्या इतने से वह अस्पृश्य होता है?

अस्पृश्यता का मूल शास्त्र निर्दिष्ट जाति या कर्म ही है। अर्थात् शास्त्र जिन कर्मों के करने से या जिस जाति में जन्म लेने से अस्पृश्यता बतलाते हैं वे कर्म और उस जाति में जन्म ही पातित्य एवं अस्पृश्यता के मूल होते हैं। शास्त्रों के अनुसार चण्डाल आदि जातियां हैं। छान्दोग्य में "ब्राह्मणयोनिं" की तरह "चाण्डालयोनिं वा" कह कर स्पष्ट चण्डाल की जाति मानी गई है।

यवनादि जातियां इस प्रकार की नहीं हैं। उनमें केवल आर्य्यधर्म-त्याग विपरीताचरण कृत्य ही पातित्य या अस्पृश्यता है। कर्म-कृत्त अस्पृश्यता भगवन्नामादि श्रवण स्मरण से इतनी शान्त हो सकती है जिससे उनके साथ कुछ अनिवार्य्य बाह्य व्यवहार्य्यता हो। परन्तु चण्डाल जाति तो शास्त्र सिद्ध है।

व्यक्तिस्थिति तक जाति—सम्बन्ध रहता है। जैसे कितने ही पशु पक्षी वृक्ष जाति से ही अस्पृश्य होते है। वैसे ही व्यक्ति स्थिति तक जाति संबन्ध अनिवार्य्य है। "नान्त्यमेयात्" इत्यादि वृहदारण्यक श्रुति से अन्त्यज से सम्बन्ध का वर्जन किया गया है। अत: नामादि प्रायश्चित से भी जाति-परिवर्तन नहीं होता।

जहाँ नामस्मरण से "श्वादोऽपि सद्यः सवनाय कल्पते" (चण्डाल भी शीघ्र ही सवनार्ह द्विजाति हो जाता है") ऐसा कहा गया है उसका अभिप्राय यही है कि कर्म वश प्राणियों को अनेक योनियों में भटकना पड़ता है। शूकर कूकर आदि अनेक योनियों में भटक कर परमात्मा की कृपा से प्राणी मनुष्य-योनि प्राप्त करता है। मनुष्य-योनि में भी क्रमश: कर्मानुसार उन्नति होती है। अर्थात् मनुष्यों में पहले केवल सत्यादि सामान्यधर्म भगवन्नामादि को आश्रयण योग्य चण्डालादि जाति प्राप्त होती है। यदि उस जाति के अनुकूल आचरण होता रहा, तब तो क्रमश: शूद्र वैश्य क्षत्रियादि योनियां मिलती हैं। और स्वर्ग या मोक्ष आदि परम पुरुषार्थ भी क्रमश: मिल जाता है। किन्तु यदि जिस जाति में जन्म हुआ तदनुकूल आचरण न होकर विपरीत हुआ तो पुन: नीचे की ओर जाकर शूकरादि योनियां प्राप्त होती हैं। इस तरह जहां सैकड़ों जन्मों में सवनार्ह द्विजाति होता, वहां नामादि समाश्रयण के प्रभाव से शीघ्रता होती है। यही उक्त वाक्य का अर्थ होता है। अन्यथा किसी पशु को भी नाम श्रवण कराकर उसकी जाति बदली जा सके; परन्तु यह अनुभव विरुद्ध ही है।

अस्तु प्रकृत विषय में यही सिद्ध हुआ कि जाति-कृत अस्पृश्यता व्यक्ति-स्थिति तक नहीं मिटती अत: चण्डाल अस्पृश्य ही हैं।

कुछ लोग कहते हैं कि यवनादि जाति जाति होती हुई भी अनिरवसित है। तभी महाभाष्य में 'शकयवनम्' ऐसा पाठ है। अनिरवसित का अभिप्राय अबहिष्कृत है। परन्तु भक्षणादि अनाचार-रत तथा वेदशास्त्र में अविश्वासी होने से वे भी सर्वथा अव्यवहार्य्य ही हैं। सिंह तो पशु है, किन्तु मनुष्य का शास्त्रों को न मानना गो भक्षण करना आदि अवश्य अस्पृश्यता के मूल हैं।

वस्तुत: बहुत थोड़े स्पष्ट शब्दों में मधुर उत्तर यही है कि अन्त्यज हमारे हैं, सनातनधर्म के अङ्ग हैं, अत: उन्हें चाहिये कि वे अपने धार्मिक स्पर्शास्पर्श को न मिटावें। जैसे वेदाध्ययन में शूद्र अन्त्यज यवन ईसाई आदि किसी का भी अधिकार नहीं है, परन्तु यवनादि हमारे नहीं हैं इसी कारण वे निषेध शास्त्रों को नहीं मानते और वेद पढते हैं। अन्त्यज आदि हमारे हैं अत: वे हमारे निषेध शास्त्रों को मानते हैं, और वेदाध्ययन में नहीं प्रवृत्त होते हैं। ठीक भी है एक यवनादि बाह्य पुरुष यदि बलात् किञ्चिद्दुर्व्यवहार करे तो करे परन्तु इससे यह तो नहीं कहा जा सकता कि फिर आपका भ्राता ऐसा व्यवहार क्यों न करे। तात्पर्य्य यह है कि स्वकीय (अपना) परकीय (पराया) इत्यादि कल्पनाएं किस आधार पर हैं। यदि हिन्दुत्व के आधार पर, तो वहां भी प्रश्न होता है कि हिन्दुत्व क्या चीज है ? यदि निराधार केवल शिखा आदि बाह्य चिह्न ही हिन्दुत्व का मूल है तब तो उसकी रक्षा और वृद्धि के लिये यह भगीरथ प्रयत्न व्यर्थ है।

यदि हिन्दुशास्त्रमूलक हिन्दु-संस्कृति के आधीन हिन्दुत्व है, तब तो शास्त्र के ही अनुसारी हमारे हैं तद्विपरीत हमारे नहीं हैं। शास्त्र के ही आधार पर बिलकुल असंभावित सम्बन्ध वाले

स्त्री पुरुषों का कितना घनिष्ट सम्बन्ध होता है। शास्त्र की आज्ञानुसार पिता को पतित-पुत्र का सम्बन्ध त्यागना पड़ता है। अतः यदि अन्त्यज शास्त्र आज्ञा मानें तभी वे हमारे हैं। हमारा पुत्र भी यदि शास्त्र की आज्ञा न माने तो वह भी हमारा नहीं। इसी वास्ते बाह्य यवनादि बलात् स्पर्शास्पर्श का विवेक मिटावें तो लाचारी है। परन्तु शास्त्र मानने वाले अन्त्यज उन व्यवस्थाओं को कैसे मिटावेंगे। रहा यह कि यदि यवनादि का बलात् स्पर्श होता है तो इनका स्वेच्छया स्पर्श क्यों न करें? इसका उत्तर यह है कि यदि दो निषेधों का उल्लंघन करके बलात् पाप करना पड़े तो यह आवश्यक नहीं कि तीसरे निषेध का भी स्वेच्छया उल्लंघन करके पाप किया जाय। मर्य्यादामयी भित्ति की दो ईंटे किसी दूसरे ने बलात् गिरा दीं तो दो चार ईंटें हम भी गिरा दें यह आवश्यक नहीं है, क्योंकि इस मर्य्यादा भंग का पाप हमें और अन्त्यजों दोनों को ही लगेगा। अतः निरर्थक स्पर्श में कोई लाभ नहीं। हां विपत्ति-विशेष से रक्षा के लिये किसी समय अनिवार्य्य स्पर्श की आवश्यकता हो तो यह दूसरी बात है। सहानुभूति और सहायता जैसे अनुजवधू को स्पर्श किये विना भी पहुंचाई जा सकती है वैसे अन्त्यजों को भी स्पर्श किये विना ही पूर्णतया पहुँचाई जा सकती है।

इस विषय में विशेष बातें जानने के लिये मन्दिर प्रवेश निर्णय नामक पुस्तक को देखना चाहिये।

अभिज्ञ-पुरुषों से यह तिरोहित नहीं है कि, आजकल सनातन धर्म पर कितने उपद्रव हो रहे हैं, सनातन धर्म का नाम लेकर बिलकुल धर्मविरुद्ध कार्य किये जा रहे हैं। साधारण लोगों को यह

जानना कठिन हो गया है कि 'सनातन' कौन है, और 'असनातन' कौन ? हन्त !

आजकल कतिपय 'लोकहितैषी' सनातनियों की यह सम्मति है कि—'गीता पुराण इतिहास आदि ग्रन्थों के अध्ययन, एवं प्रणवयुक्त मन्त्र के जपमें शूद्र और अन्त्यजादिकों का भी ब्राह्मणादि के बराबर अधिकार है. क्योंकि—इस विषय में शास्त्रों के कई अनुकूल वचन और प्रमाण मिलते हैं। जैसे कि मूलरामायण के प्रथमाध्याय के अन्त में कहा गया है कि—

"पठन् द्विजो वागृषभत्वमीयात्
स्यात्क्षत्रियो भूमिपतित्वमीयात् ।
वणिग्जनः पण्यफलत्वमीया-
ज्जनश्च शूद्रोऽपि महत्वमीयात् ॥"

और महाभारत के शान्ति-पर्व में स्तवराज के माहात्म्य में कहा गया है कि—

"इमं स्तवं सन्नियतेन्द्रियश्च भूत्वा शुचिर्यः पुरुषः पठेत ।
अभग्नयोगो नियतो मासमेकं संप्राप्नुयादश्वमेधे फलं यत् ॥"

तथा—"वेदान्कृत्स्नान्ब्राह्मणः प्राप्नुयात्तु,
जयेन्नृपः पार्थ महीं च कृत्स्नाम् ।
वैश्यो लाभं प्राप्नुयान्नैपुणं च
शूद्रो गतिं प्रेत्य तथा सुखं च ॥

इत्यादि स्थलों में 'पठन्' शब्द का सबके साथ अन्वय है। और धृतराष्ट्र को 'गीता' संजय ने ही सुनाई थी, जो सूत थे।

विदुर-मैत्रेय का संवाद भागवत में प्रसिद्ध ही है। विदुर जी भी शूद्र थे। इसके सिवाय अन्य भी कई वचन और प्रमाण मिलते हैं।

इसलिए इस समय जबकि चारों ओर से सनातनधर्म पर आघात हो रहे हैं, तब हमारी सनातनधर्मी शूद्र जनता को भी सचेत और अपने धर्म में श्रद्धावान् बनाये रखने के लिये उन्हें पुराण और इतिहासादि को समझने की आवश्यकता है। ऐसी अवस्था में उनको शास्त्र के वचनों के आधार पर ही इनके पढ़ने की सुविधा रहनी चाहिये इत्यादि इत्यादि। कुछ वर्तमान युग के पोषक भट्टाचार्य्य भी कह देते हैं कि "मैंने जहाँ तक शास्त्रों का परिशीलन किया है मुझे गीता के अध्ययन संबन्ध में अधिकार विशेषकी चर्चा कहीं भी देखने में नहीं आयी अतः उसके अध्ययन में तो मनुष्य मात्र अधिकारी हैं।"

यद्यपि शास्त्र-विरुद्ध मनगढन्त विचार वाले उच्छृङ्खल लोगों के सामने शास्त्रीय निष्पक्ष सिद्धान्तका विवेचन करना केवल अरण्य-रोदन, या वेश्याओं को वैराग्यका पाठ सुनाना है, तथापि सनातनधर्म के नातेदारों की हित-बुद्धि के निमित्त उनके सन्देह-शङ्का को मिटाने के लिए इस विषय पर कुछ विवेचन किया जाता है।

धर्म-निर्णय में—"महाजनो येन गतः स पन्थाः" के अनुसार पूर्वाचार्यों की ही सम्मति माननी चाहिये। जब कि श्रीमच्छङ्कराचार्य श्रीरामानुजाचार्य श्री वल्लभाचार्य श्रीमध्वाचार्य आदि सभी आचार्य शूद्र और अन्त्यजादिकों का गीता

पुराणादि के पठन में अनधिकार, एवं-श्रवण से (ही) कल्याण बतला रहे हैं । और लोक-प्रसिद्ध धर्म-निर्णायक मिताक्षराकार-

'पुराणन्यायमीमांसा धर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः"

इसके नीचे—'एतानि त्रैवर्णिकैरध्येतव्यानि' ऐसा व्याख्यान करके केवल त्रैवर्णिकों का ही पुराणादि शास्त्र के अध्ययन में अधिकार बतलाते हैं । तथा-धर्मसिन्धु, निर्णयसिन्धु, में शूद्रादिकों के अध्ययन का निषेध स्पष्ट निर्णीत है तब फिर इन सब की उपेक्षा करना कहाँ तक ठीक है ?

अतः जो लोग शास्त्र को मानते हैं और सनातन धर्म में श्रद्धा रखते हैं, उन्हें या तो इन सभी आचार्यों से अनुसृत-सिद्धान्त को मानना चाहिये, या फिर स्पष्ट ही कहना चाहिये कि हम न निषेध वचनों को ही मानते हैं, और न पूर्वोक्त आचार्यों को ही मानते हैं ।

इससे यह भी सिद्ध हुआ कि गीता "यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य" के अनुसार शास्त्रोल्लंघन को अत्यन्त अनिष्टकारक बतलाती है । और यह स्वयं भी शास्त्र ही है । अतः उक्त भट्टाचार्य्य के परिशीलित शास्त्रों में भले ही गीता के लिए अधिकारी विशेष की चर्चा न हो परन्तु पूर्वाचार्यों की दृष्टि में तो इस विषय में पर्याप्त विवेचन है । स्वयं गीता ही अधिकारी विशेष की चर्चा कर रही है । इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन नचाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति" इत्यादि अब पाठक स्वयं समझें कि अधिकारी की चर्चा है कि नहीं । इसके सिवाय अब भारतादि इतिहास पुराण के

अध्ययनाधिकारी का विवेचन हुआ तब गीता भी तो भारत में ही है।

अरे भाई ! यदि शूद्र और अन्त्यजादिकों का कल्याण, शास्त्र के अनुसार पुराणादि श्रवण, भगवन्नामजप, और परिचर्यारूप स्वकर्म से ही हो सकता है तब तो उसीका प्रचार करना ठीक है न कि तद्भिन्न अकल्याणकर परधर्म का प्रचार ! आखिर हम लोगों ने भी तो शास्त्र एवं आचार्यों से ही—

'सर्वेऽत्र सुखिनः सन्तु'

का पाठ सीखा है। वे हमलोगों की अपेक्षा बहुत अधिक दयालु थे। वे लोग परमवीतराग, वल्कल वसनधारी एवं वन्य-फलाशी होकर भी केवल दयालुता के वश, प्राणियों के कल्याणकी बातें समझकर उनका उपदेश कर गये हैं। हां, जहाँ उनके वचनों में परस्पर विरोध प्रतीत होता हो, वहां उनके विरुद्ध वचनों का समन्वय उन्हीं (पूर्वाचार्यों) की पद्धति से करना उचित प्रतीत होता है।

राजा न्याय और अन्याय पक्ष से प्रवृत्त करने के लिए प्रत्येक पुरुष के पीछे नहीं लगा रहता। अपि तु वह एक कानून बना देता है और उसी के अधिकारानुसार प्रजा पर अनुग्रह या निग्रह करता है। परन्तु जो व्यक्ति अन्यान्य को न्याय बताकर एवं न्याय को अन्याय बता कर प्रजा को भ्रम में छोड़ता है वह पुरुष राजा और प्रजा दोनों ही का विद्रोही समझा जाता है।

ठीक, वैसे ही परमेश्वर भी पुण्य और पाप में प्रवृत्ति और निवृत्ति होने के लिए शास्त्ररूप नियम बना देता है। उसके अनुसार

पुण्य करने वाला 'अनुग्राह्य' होता है, और तद्विपरीत पाप करने वाला 'निग्राह्य' होता है। किन्तु जो उचित को अनुचित, वा अनुचित को उचित बतलाता तथा प्रचार करता है वह प्रजा एवं परमेश्वर का विद्रोही है। विचारी अबोधप्रजा पाप-पङ्क में फँसती है। इसी घोर अन्याय को देख अभिज्ञ सत्पुरुष सन्तप्त होते हैं और उन्हें उसके प्रति कुछ कहना पड़ता है।

अतः यदि वे लोग वास्तव में प्रजा का कल्याण चाहते हैं तो केवल उन्हीं सिद्धान्तों का प्रचार करें जो कि शास्त्र और प्राचीन आचार्यों से अनुमोदित हैं। और यदि उनमें सन्देह हो तो वर्त्तमान शास्त्र–रहस्यज्ञ आचार्य एवं विद्वानों से शान्ति के साथ दुराग्रह छोड़ कर स्वच्छ मन से पहले विचार अवश्य कर लें। उन लोगों के वर्त्तमान प्रचार से उपदेष्टा एवं उपदेश्य दोनों का ही अकल्याण शास्त्र-सिद्ध है। इसलिये उक्त विषय पर कुछ विचार किया जाता है।

पठन् द्विजो वागृषभत्वमीयात् स्यात्क्षत्रियो भूमिपतित्वमीयात्।
वणिग्जनः पण्यफलत्वमीयात् जनश्च शूद्रोऽपि महत्वमीयात्॥

अर्थात्–इस मूल रामायण को यदि ब्राह्मण पढे तो वह वाग्मी बन जाय, यदि क्षत्रिय इसका पाठ करे तो वह राजा हो जाय, यदि वैश्य पढ़े तो वह धन धान्य समृद्ध हो जाय, और यदि शूद्र इसे सुने तो वह उपर्युक्त द्विजातियों के अतिरिक्त (अन्य) सब प्राणियों से श्रेष्ठ हो जाय।

"वेदान्तगो ब्राह्मणः स्यात् क्षत्रियो विजयी भवेत्।
वैश्यो धनसमृद्धः स्याच्छूद्रः सुखमवाप्नुयात्॥"

अर्थात्–विष्णुसहस्रनाम का श्रवण एवं कीर्तन करनेवाला

ब्राह्मण वेदवेदाङ्गपारग अर्थात ज्ञानी हो जाता है, क्षत्रिय युद्ध में विजय पाता है, वैश्य धन धान्य समृद्ध हो जाता है, और इसका श्रवण करने वाला शूद्र सुखी होता है।

इत्यादि वचनों में वर्त्तमान 'पठन्' 'परिकीर्तयेत्' पद ब्राह्मण आदि तीन वर्णों के साथ संयुक्त होकर चरितार्थ हैं, अतः सावकाश है। किन्तु—

"श्रोतव्यमेतच्छूद्रेण नाऽध्येतव्यं कदाचन।"

इत्यादि निषेध वचन केवल शूद्र विषयक हैं अतः निरवकाश हैं।

"निरवकाशो विधिरपवादः" इस परिभाषा से निरवकाश विधि से सावकाश विधि का बाध हो जाता है। अतः उपर्युक्त विषय में सावकाश (द्विजाति पठन रूप) विधि निरवकाश (शूद्र पठन रूप) निषेध विधि से बाधित हो जायगा अतः शूद्रों के पठन में उपर्युक्त वचन विधि नहीं किन्तु विध्याभास मात्र है।

इसके सिवाय (जैसे) कठवल्ली के—

'ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्द्धे।

(क० १।३।१)

इस मन्त्र में प्रत्यक्ष 'पिबन्तौ' यह द्विवचनान्त शब्द ईश्वर और जीव दोनों के लिये आया है। किन्तु ईश्वर कर्म-फल का भोक्ता हो ही नहीं सकता अतः व्याख्याकारों ने "जीवः पिबति, ईश्वरः पाययति" अर्थात् जीव कर्म के फल को भोगता है, और ईश्वर उस कर्मफल को भोगवाता है यही अर्थ किया है।

अथवा छत्रिन्याय से परमेश्वर में उपचारात्मक 'पिबति' शब्द स्वीकार किया है। जैसे कि मन्त्र में आया हुआ 'पिबन्तौ' शब्द ईश्वर व जीव दोनों के प्रति दो अर्थों को देता है, उसी प्रकार एक श्लोक में आया हुआ 'पठन्' शब्द द्विज और शूद्र के प्रति दो पृथक् २ अर्थों को दे तो क्या हानि है? अर्थात् द्विजाति स्वयं पाठ करे और शूद्र ब्राह्मण द्वारा पाठ करावे ऐसा 'पठन्' 'परिकीर्त्तयेत्' आदि शब्दों का अर्थ युक्त है।

अथवा-जैसे "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" इससूत्र में जिज्ञासा शब्द का अर्थ ज्ञान की इच्छा होता है। किन्तु यहाँ ज्ञान का अजहल्लक्षणा द्वारा ब्रह्मापरोक्ष-ज्ञान और इच्छा का जहल्लक्षणा द्वारा विचार अर्थ किया गया है। अर्थात्-ब्रह्म के अपरोक्षज्ञान के साधन-भूत वेदान्त-वाक्यों का विचार करना चाहिये। इसी प्रकार यहाँ 'पठन्' शब्द का जहल्लक्षणा से ज्ञान सम्पादन करना ऐसा अर्थ किया जाना चाहिये। तभी तो इसका इतना महत्त्व है। फिर तो 'द्विजः पठन् शूद्रः शृण्वन्' यह अर्थ हो ही सकता है।

अच्छा, 'धृतराष्ट्रको गीताके सुनाने वाले सञ्जय थे, पुराणेतिहासादि के वक्ता सूत थे और विदुर भी सूत ही थे। ये सब शूद्र ही थे। ये लोग जब गीतादि का पठनादि करते थे तब आजकल के शूद्र इन सब इतिहास पुराणादिके अध्ययनाधिकारी क्यों नहीं हो सकते?' ऐसा कुछ लोग कहा करते हैं। इसपर कुछ विवेचन करना है।

उक्त कथन से क्या सञ्जय विदुरादि दृष्टान्तोंके आधार पर वे शूद्रों का गीतादि अध्ययनमें अधिकार साबित करना चाहते हैं? या किसी शास्त्रीय विधायक वचन के बलपर?

यदि प्रथम पक्ष अभिमत है, तब तो सूतजी के दृष्टान्त-बल को ले कर वर्तमान शूद्रों को भी व्यासासनासीन होकर पुराणादि प्रवचन करने का अधिकार सिद्ध किया जा सकता है। क्या यह भी आपको मान्य होगा ? यदि मान्य है, तब तो क्षत्रिय वैश्योंका भी प्रवचनादिमें अनधिकार बतलानेवाली स्मृतियां सुतरां उपेक्ष्य ही समझी जायंगी। इसके अतिरिक्त—

'मेलि जनेऊ लेहिं कुदाना।
बैठि बरासन कहहिं पुराना।'

इत्यादि वचन से गोस्वामीजी भी इसे अनुचित ही समझ रहे हैं। क्या उन्हें हम लोगों जैसी भी बुद्धि नहीं थी ?

इस प्रकार से दृष्टान्तों के बलपर धर्म की व्यवस्था नहीं हुआ करती। किन्तु अकारण-कारुणिक-महर्षिजन-चिरालोचित शास्त्रीय-विधायक-वचनोंके आधार पर ही सदा धार्मिक व्यवस्थाएं हुआ करती हैं। अन्यथा दृष्टान्तके बलपर तो अधर्म भी सिद्ध किया जा सकता है। जैसे कुन्ती, द्रौपदी आदिके दृष्टान्तको सामने रखकर नारियोंका बहु-पति संयोग बन सकता है। पर यह क्या किसी भी सहृदयको अच्छा लगेगा ? यदि कहें कि यह बात अन्यान्य वचनोंसे विरुद्ध होनेके कारण नहीं की जा सकती, तब तो उक्त प्रसंगमें भी वचनके बलपर ही पुराणादि अध्ययनमें उपनीत द्विजका ही अधिकार है, विधि है, और शूद्रके लिये स्पष्ट निषेध है। अतः सूत, विदुर सञ्जय और धर्म-व्याधादिके उदाहरण सामने रखकर शूद्रायनधिकारियों का पुराणेतिहासाध्ययन सिद्ध करना मोहमूलक ही है। और भी जैसे द्रौपदीका दृष्टान्त

प्राकृत नारियों के लिये उपयुक्त नहीं है, वैसे ही सूतादि अप्राकृत पुरुषोंका दृष्टान्त वर्त्तमान प्राकृत शूद्रोंके लिये नहीं है। वह केवल उन्हीं के लिये है। उनके जैसे वे ही थे। वस्तुतः यदि पुराणादि अर्द्धजरतीय न्याय से न देखे जायं तो ऐसा अवसर ही न आवे। उन्हीं इतिहास पुराणों को ध्यान पूर्वक देखने से पता लगता है कि वे लोग दिव्य थे, सिद्ध थे। सञ्जय को दिव्य दृष्टि प्राप्त थी। विदुरादिके स्वरूप में धर्मादि देवता अवतीर्ण थे। ऐसी बहुत सी बातें प्राकृत शूद्रों की अपेक्षा उन लोगों की असाधारण थी।

दूसरी बात यह कि जब एक तरफ शूद्र के अध्ययन का निषेध है, तब भी यदि दृष्टान्त के बलपर किसी का अध्ययन प्रवचनादि अधिकार सिद्ध किया जा सकता है तो केवल सूत जातिका ही, अन्य शूद्रों का नहीं। क्योंकि जैसे **'वर्षासु रथकारोऽग्नीनादधीत'** इत्यादि वचन बल से रथकार शूद्रका वर्षा ऋतु में अग्न्याधान एवं तत्साध्य किञ्चित् वैदिक कृत्यका विधान बताया है। यद्यपि शूद्र का वेदाध्ययन तथा वैदिक कृत्य में अधिकार नहीं तथापि अबाधित विशेष वचन से रथकार का किञ्चित् कृत्यमें अधिकार निर्दिष्ट है, अन्य शूद्र का नहीं, वैसे ही यद्यपि यहां कोई विधायक वचन नहीं है, केवल कुछ अर्थवाद वचन ही ऐसे हैं, जिनसे शूद्र के अध्ययनाधिकारकी भ्रान्ति मीमांसावृत्तान्तानभिज्ञों को हो रही है, परन्तु वह भी **"नाध्यापयेद्बुधः शूद्रम्"** और **"नाध्येतव्यमिदं शास्त्रम्"** इत्यादि स्पष्ट निषेध वचनों से बाधित है। तथापि एक मात्र दृष्टान्त बल से यदि **"सन्तुष्यतु दुर्जनः"** न्यायेन किसी का अधिकार सिद्ध हो भी तो वह रथकार की भांति केवल

सूतका ही। अन्य का नहीं। वस्तुतस्तु 'वचनान्निवृत्तिः' 'वचनात्प्रवृत्तिः' के ही आधार पर धर्माधर्म का ज्ञान होता है।

इसके अतिरिक्त सूत जातिका धर्म प्राचीन राजकुल महत्वादि वर्णन करके राजाओंको प्रसन्न करना, प्रोत्साहित करना आदि रहा है। धर्म–कर्मका उपदेश करना सूत जातिका काम कभी नहीं रहा। देखिये महाभारत में ही 'न हीनतः परभ्याददीत' अर्थात् नीच जाति से धर्म या ब्रह्म का उपदेश न ग्रहण करें ऐसा वाक्य है। ऐसी स्थितिमें धृतराष्ट्र शूद्र से धर्मोपदेश कैसे ग्रहण कर सकते थे? किञ्च जहां कहीं हीन से भी धर्म ग्रहण या उत्तम विद्या ग्रहण करना बताया है वहां वह आपत्काल के लिये है। जैसे उद्दालकने अश्वपतिसे पञ्चाग्नि विद्या ग्रहण की थीं, कारण कि दूसरा कोई इस समय उस विद्या का जाननेवाला नहीं था।

विदुर की भी विशेषता उपलब्ध होती है। जैसे उनको विना अध्ययन के ही समस्त विद्याओं की स्फूर्ति हो गयी थी। ऐसी अपशूद्राधिकरण में भाष्यकारादिकों की उक्ति है। अन्यत्र पुराणों में भी इनकी उत्पत्ति का विषय इस प्रकार से मिलता है—विदुरजी धर्मराज के अवतार थे। उन्हें एक बार माण्डव्य ऋषि का शाप हुआ था। उसी के कारण धर्म भगवान् ही साक्षात् व्यासजी महाराज के वीर्य से दासी में अवतीर्ण हुए थे। उन्हें सुप्त प्रतिबुद्ध न्याय से समस्त विद्याएं प्रस्फुरित हुई थीं। इसमें आश्चर्य ही कौन है? इसी तरह सञ्जयादिका भी महत्व है। उन्हें श्रीव्यास भगवान् के प्रसाद से दिव्य दृष्टि प्राप्त थी, तत्क्षण सर्वज्ञता थी, जैसा कि गीता में कहा है—

'व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम् ।'

फिर वे ही सोचें, इस तरह के दिव्य महानुभावों के उदाहरण जनसाधारण के लिये कैसे हो सकते हैं ? स्कन्द पुराण की गाथा है—पतिव्रता शिरोमणि श्रीअरुन्धती किसी चाण्डाल के यहां अपने लोकोत्तर तपोमय तेज से सूर्य्य के तेज को अवरुद्ध करके प्रकट हुई। क्षुधापीडित महर्षि वशिष्ठ ने चाण्डाल के आग्रह करने पर उन्हें अपनी सहचारिणी बनाया। क्या कोई भी शास्त्र या धर्म-मर्मज्ञ पुरुष इस दृष्टान्त के आधार पर ब्राह्मण का भङ्गी की लड़की से विवाह होना साबित या अनुमोदित कर सकता है ?

इसके अतिरिक्त वायुपुराण में सूतनिर्णय निम्नाङ्कित प्रकार उपलब्ध है—

वैन्यस्य तु पृथोर्यज्ञे वर्त्तमाने महात्मनः ।
सुत्यायामभवत्सूतः प्रथमं वर्णवैकृतम् ॥ १ ॥
ऐन्द्रेण हविषा तत्र हविः प्रत्तं बृहस्पतेः ।
जुहावेंद्राय दैवेन ततः सूतो व्यजायत ॥ २ ॥
शिष्यहव्येन सम्पृक्तमभिभूतं गुरोर्हविः ।
अधरोत्तरचारेण जज्ञे तद्वर्णवैकृतम् ॥ ३ ॥

महाभारत के आदि पर्व में पौराणिक पदका विवेचन करते हुए नीलकंठजी के लेख से भी सूतजी के विषय में सुन्दर शास्त्रीय निश्चय मिल रहा है। जैसे—

"किन्तर्हि—अग्निकुण्डसमुद्भूत सूत निर्मलमानसेति रोमहर्षणम्प्रति शौनकवचनस्य पुराणान्तरे दर्शनादग्निजो रोमहर्षणः सूतस्तस्य च ब्राह्मणसंकल्पाद्ब्रह्मासनार्हत्वं ।

धृष्टद्युम्नस्य क्षत्रियत्ववत् । ब्रह्मासनञ्च वैशम्पायन शान्त-व्रत-मार्कण्डेयादितुल्यस्तत्सजातीय एवार्हति न हीनः । नहि महान्तः शौनकादयो हीनात्परं रहस्यज्ञगृह्णुरिति वक्तुं युक्तम्—'न हीनतः परमभ्याददीत' इत्यत्रैव तन्निषेधात् । अतएव तद्वधाद्बलरामेण ब्रह्महत्याव्रतं चीर्णमिति स्मर्यते । तत्र सूतशब्दस्तु कथाप्रवक्तृत्वसामान्यात् तस्माद् ब्राह्मण एव पुराणप्रवक्तृत्वेन वरणीयः श्रोतुकामैः न हीनः + + +"

—महाभारत आदि० पौलोम० ४ अ०, २ गद्य
टीका नीलकंठी ।

भावार्थ यह हुआ कि 'एक बार वेन राजा के पुत्र महात्मा पृथु ने यज्ञ किया। वहां 'सुत्या' में सूतजी उत्पन्न हुए । यह पहला वर्णविकार था । उस यज्ञ में दैवात् इन्द्रहवि से संयुक्त बृहस्पति हवि इन्द्र को दी गयी । उससे सूत उत्पन्न हुए । शिष्य (इन्द्र) की हवि के साथ गुरु (बृहस्पति) की हवि के सम्पृक्त हो जाने से वह गुरु-हवि अभिभूत (तिरस्कृत-अशक्त) हो गयी । उसके अवाञ्छित ऊपर नीचे हो जाने से यह वर्णविकार प्रकट हुआ । तात्पर्य यह कि यज्ञों में बृहस्पति हवि ब्राह्मण हवि मानी जाती है और इन्द्र-हवि क्षत्रियहवि । हवनादि काल में ब्राह्मणहवि ऊपर रखी जाती है और इन्द्रहवि उसके नीचे । इस विधिके विपरीत हो जाने से प्रातिलोम्य हो जाता है । प्रकृत में भी ब्राह्मणहवि के नीचे होने से और इन्द्रहवि के ऊपर होने से विधि वैपरीत्य दैवात् हो गया । अतः प्रतिलोम सूतजी की सृष्टि हुई ।

किन्तु यह अलौकिक दिव्य उत्पत्ति गिनी जाती है। अतः इस प्रकार के व्यक्ति विशेषों के साथ सामान्य जाति के नियम लागू नहीं हो सकते।

एवंच दूसरे संस्कृत खण्डका तात्पर्य यह है कि "किसी पुराणमें शौनकजी ने रोमहर्षण नामवाले सूतजी को 'अग्निकुण्डसमुद्भूत, सूत, निर्मलमानस आदि वचनों से सम्बोधित किया है। इससे माल्म पड़ता है कि रोमहर्षण सूत अग्नि से उत्पन्न हुए हैं और ये ब्राह्मण के संकल्प से उत्पन्न होने के कारण ब्रह्मासनपर बैठने के योग्य थे। ब्राह्मण संकल्प से अग्नि से उत्पन्न हुए धृष्टद्युम्न क्षत्रिय समझे गये। अर्थात् लौकिक जाति-नियम तत्तद्योनि में उत्पन्न होने से लागू होता है। परन्तु अग्नि से उत्पन्न हुए लोगों की कौन जाति मानी जाय? इसपर यह निर्णय किया गया कि जिस संकल्प से या जिस के लिये जो उत्पन्न हुआ उसकी वही तत्तत्संकल्पानुसारिणी जाति मानी जाय। ब्रह्मासन ग्रहण करने के योग्य अधिकारी वैशम्पायन शान्तिव्रत मार्कण्डेय प्रभृति अथवा तत्सदृश या तत्सजातीय ही हो सकते हैं, अन्य कोई हीनवर्ण नहीं। शौनकादि महापुरुषोंने हीन से तत्त्व रहस्य जाना, यह नहीं कह सकते। क्योंकि हीन से पर अर्थात् ब्रह्म का ज्ञान न करे ऐसा यहाँ निषेध मिलता है। इस लिये सूतजी का वध करने से बलराम भगवान् को ब्रह्महत्या लगी और उसका उन्हें प्रायश्चित्त भी करना पड़ा। ऐसा यत्रतत्र स्मरण किया गया है। सूत शब्द का प्रयोग तो कथा प्रवचन सामान्य से हुआ है। इसलिये श्रोताओंको पुराण प्रवचन के लिए ब्राह्मण ही अभिषिक्त करना चाहिए।

इस प्रकार के पूर्वापर शास्त्रीय विवेचनों से श्रीसूतजी का

प्राकृत शूद्रत्व सर्वथा व्याहत है। इसी तरह से अन्यान्य विदुरादि सम्बन्धी व्यवस्थाएं भी स्वयं शास्त्र और शास्त्रज्ञोंने कर रखी है जैसा कि कुछ पहले दिग्दर्शन किया गया है। अतः इस प्रकार के दृष्टान्त बलपर शूद्रादिका गीताध्ययनादिमें अधिकार नहीं बन सकता।

अब यदि द्वितीय पक्ष अभिमत है अर्थात् किसी शास्त्रीय वचन के बलपर पुराण गीतादि के अध्ययन में शूद्र का अधिकार सिद्ध करना चाहते हैं तो पहले इसपर थोड़ा विचार करें कि एक सामान्य पुरुष भी साधारण चिट्ठी को लिख कर पूर्वापर की बात मिला लेता है अर्थात् विरुद्ध बात नहीं लिखता। फिर सर्वज्ञ महर्षि विरुद्ध बात कैसे लिख सकते थे? भगवान् व्यासाचार्य अपने ही ग्रन्थों में शूद्र को पुराणादि अध्ययनका निषेध भी लिखें और विधान भी? यह कैसे हो सकता है? यदि शूद्रों को पुराणादि के अध्ययन से पुण्य होता, तो उनके अध्ययन में अधःपात क्यों बताया जाता?

आपने कहा—'दोनों ही प्रकार के वचन मिलते हैं। परन्तु निषेधक वचन प्रबल हैं। फिर भी जिसकी जैसी रुचि हो, वैसा ही वह मान सकता है।' वाह! यह एक ही कही! महाशय! यह एक बड़ी भ्रामक बात है। धर्मका आचरण रुचि पर नहीं किन्तु शास्त्रीय निर्णय पर निर्भर होता है। यह कभी हो सकता ही नहीं कि पाप पुण्य हो जाय, विष अमृत हो जाय और अग्नि जल हो जाय। वस्तुतः जो धर्म है वही अनुष्ठेय है और जो अधर्म है वही त्याज्य है।

इसके अतिरिक्त जो आपने 'पठन्द्विजोवाग्गृषभत्व ···' इमं

स्तवं···' 'शूद्रो गतिं प्रेत्य···' इत्यादि वचनों को शूद्राध्ययनाधिकारार्थ प्रमाण रूपसे उपन्यस्त किया। वे फलवाद हैं।

उन वाक्यों के समान ही विष्णु सहस्रनाम का भी एक फलवाद वचन है—

"वेदान्तगो ब्राह्मणः स्यात्क्षत्रियो विजयी भवेत्।
वैश्यो धनसमृद्धः स्याच्छूद्रः सुखमवाप्नुयात् ॥"

अपने भाष्य में इसपर विवेचन करते हुए भगवान् श्रीशंकराचार्य ने शूद्र का श्रवण से सम्बन्ध रखा है, पठन से नहीं; जैसे—'शूद्रः शृण्वन् सुखमवाप्नुयात्' क्योंकि उसका पाठ में अधिकार नहीं है। अन्यत्र भी लिखा है—'सुगतिमियाच्छ्रवणाच्च शूद्रयोनिः' एवं एक बात और भी है। वह यह कि अध्ययन का स्पष्ट निषेध अर्थवाद-वचन को सर्वथा ही बाधता है। जैसे स्कन्दपुराणमें—

नाध्यापयेद्बुधः शूद्रं तथा नैव च याजयेत्।
शूद्राय चोपदेष्टारं द्विजं चाण्डालवत्त्यजेत् ॥ ३ ॥

इत्यादि स्पष्ट निषेधवाद मिलते हैं। इसी प्रकार भविष्य पुराण में भी अध्ययन का निषेध मिल रहा है और केवल श्रवण का ही विधान प्राप्त है। "नाध्येतव्यमिदं शास्त्रं ब्राह्मणक्षत्रियौ विना। श्रोतव्यमेतच्छूद्रेण नाध्येतव्यं कदाचन" यहांपर 'ब्राह्मण क्षत्रियौ' पद वैश्य का भी उपलक्षण है। ऐसी ही व्यवस्था निर्णयसिन्धुकारादिकोंने भी की है।

इसके अतिरिक्त प्रबल वाक्यों से दुर्बल वाक्यों का बाध सर्व-

निर्णायक सम्मत है। प्रकृत में निषेधक वचन प्रवल हैं और ऐसा आप भी मान रहे हैं। तब क्यों नहीं दुर्वल अर्थवाद वचन का श्रवण द्वारा ज्ञान सम्पादन में तात्पर्य स्वीकार कर लेते ?-जिसको कि 'सुगतिमियाच्छ्रवणाच्च शूद्रयोनिः' इत्यादि वचनों के आधार पर श्रीमच्छंकर भगवत्पादादि आचार्यों ने भी स्वीकार किया है। यहाँ पर यह प्रवल वचन से दुर्वल वचन के बाध की व्यवस्था वेदार्थ निर्णायक मीमांसा शास्त्र के आधार पर की जाती है। जैसे वहां वेदों में-'जर्तिलयवाग्वा जुहुयात्' इस अर्थवाद वचन से प्रतीयमान जर्तिल होम का 'अनाहुतीर्वा' इत्यादि प्रवल वचन से सर्वथा बाध हो जाता है। वस्तुतः इस विषय में शास्त्रीय विचार पीछे किया गया है। इस तरह शास्त्रीय वचन के वल पर भी शूद्रादि का पुराण गीतादि पठन अनभिमत ही है।

कुछ लोगों का कथन है कि जैसे उपनयनादिसंस्कारों के प्रथम ब्राह्मणादि त्रैवर्णिकों का वेद वेदाङ्ग के अध्ययन में अधिकार नहीं है। परन्तु उपनयनादि के बाद वेदादि अध्ययन तथा तदर्थानुष्ठान में अधिकार हो जाता है वैसेही मद्य मांस त्याग तथा भागवती दीक्षा या शैवी दीक्षा से चण्डालादि अन्त्यजों की भी पूर्ण विशुद्धि होती है। फिर वे अध्ययन तथा देवदर्शनादि के अधिकारी हो जाते हैं। इसके अनुकूल अनेक प्रकार की आख्यायिकायें इतिहास पुराणों में पाई जाति हैं। मूक, धर्मव्याध, शवर आदि निकृष्ट जाति के होते हुए भी सदाचारी विद्वान तथा देव मूर्तिओं की आराधना करने वाले एवं सद्विद्वानों से सम्मानित रहे हैं।

इस पर प्राचीन अर्वाचीन समस्त आर्षसिद्धान्तानुयायि विद्वानों

का सिद्धान्त यह कि दीक्षा आदि से जाति का परिवर्तन नहीं होता किन्तु भाव का ही परिवर्तन होता है। इस विषय में कवि-तार्किकसिंह वैष्णवाचार्य शिरोमणि का कथन है कि:—

अतो जातेर्निकृष्टायाः सर्वस्या वा विनाशनात्—
साजात्यं विष्णुभक्तानामिति मन्दमिदं वचः।
वैष्णवत्वेन मान्यत्वं समानं मुनिसम्मतम्।
जात्यादिध्वंसतः साम्यं मुक्तिकाले भविष्यति

अर्थात् वैष्णवों की निकृष्ट जातियों का नाश हो जाता है अतः समस्तवैष्णवोंकी समान ही जाति है यह कथन अतिमन्द है। हां वैष्णव रूप से मान्यता अवश्य ही समान है। सर्वथा समता तो मुक्तिकाल में जातिध्वंस से ही होगी।

कलौ ब्राह्मणता वीर्य्यात् तपश्चर्य्यादिना नहि।
शुद्धंत्वशुद्धतामेत्य शोधनाच्छुद्धमुच्यते॥
यथा भस्मादिसंसर्गादशुद्धं तैजसं शुचि।
शुद्ध्यशुद्धिमाप्नोतिगङ्गाम्भःप्लवनादपि॥

कौशिक संहिता के वचनों के अनुसार यही सिद्ध होता है कि कलियुग में केवल वीर्य्य से ब्राह्मणता होतीहै तपश्चर्य्या आदि से नहीं। शुद्ध वस्तु ही किसी तरह अशुद्ध होने पर शोधन द्वारा शुद्ध की जाती है। जैसे तैजस पदार्थ अशुद्ध होकर शुद्ध हो जाता है वैसे गङ्गा स्नान से भी निकृष्टअङ्ग की शुद्धि नहीं होती। अभिप्राय यही हुआ कि इस जन्म में जाति का परिवर्तन कथमपि नहीं हो सकता।

कुछ महानुभावों का कहना है कि:—

किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुल्कसा ।
आभीरकङ्का यवनाः खशादयः ॥
येऽन्ये च पापा यदुपाश्रयाश्रयाः ।
शुद्ध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवेनमः ॥ (श्रीमद्भागवत)

सद्गुरु चरण का अवलम्बन कर जातितः कर्मतः अशुद्ध भी शुद्ध हो जाते हैं। अर्थात् भक्ति से प्रारब्ध अप्रारब्ध दोनों ही प्रकार के कर्म नष्ट होजाते हैं। क्योंकि किरात आदि की अशुद्धि में दुर्जाति को ही कारण माना जाता है। और उस दुर्जाति का नाश नहीं हो सकता।

इसी लिये वैष्णवों में पूर्व जाति का व्यवहार मात्र होता है।

परमार्थतः भक्ति से प्रारब्ध कर्म के नाश होने पर तदारब्ध दुर्जाति का भी नाश हो ही जाता है।

अतएव

"अर्च्ये विष्णौ शिलाधीर्गुरुषु नरमतिर्वैष्णवे जातिबुद्धिः"।

इत्यादि से वैष्णवों में जाति बुद्धि का निषेध किया गया है।

"यन्नामधेयश्रवणानुकीर्तनात् यत् प्रह्वणात्—यत्स्मरणादपि क्वचित्"।

श्वादोऽपि सद्यः सवनाय कल्पते"
"कुतःपुनस्ते भगवन्नु दर्शनात्"

इत्यादि से यह सिद्ध होता है कि श्रीमद्भगवन्नामादि से चण्डाल भी यज्ञादि योग्य द्विजाति हो जाता है। सोमकर्त्ता ब्राह्मण के समान पूज्य हो जाता है। अर्थात् दुर्जात्यारम्भक कर्मका नाश हो जाता है।

"दुर्जातिरेव सवनायोग्यत्वे कारणं मतम्"

"दुर्जात्यारम्भकं पापं यत्स्यात्प्रारब्धमेव तत्"

इस पर कुछ महानुभाव कहते हैं कि जन्मान्तर में ही उत्कृष्ट जाति की प्राप्ति होती है इस जन्म में कथमपि जात्यन्तर की प्राप्ति नहीं हो सकती।

इस विषय में श्री श्रीधरस्वामिचरण का कहना है कि पूर्वोक्त वचनों का केवल विष्णुभक्तश्वपचादि के श्रेष्ठत्व वर्णन ही में तात्पर्य है।

"अहो वत श्वपचोऽतो गरीयान्।
यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम्॥
"तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्याःब्रह्मानुचुर्नाम गृणन्ति ये ते"

जिस श्वपच की जिह्वापर भगवान् का नाम रहता है उसने समस्त तप जप होम कर लिया। भूतकाल का निर्देश होने से होमादि की क्रियमाणता या करिष्यमाणता का सूचन नहीं है।

तात्पर्य यही है कि सदाचार सम्पन्न विष्णुभक्त चण्डाल भी स्वजाति में उत्कर्ष के भागी होते हैं। कुछ लोग अग्रिम वाक्य के आधार पर सर्वथा ही दीक्षा से जाति परिवर्तन का समर्थन करते हैं जैसे—

"यथा काञ्चनतां याति कांस्यं रसविधानतः।
तथा दीक्षाविधानेन द्विजत्वं जायते नृणाम्—

जैसे कांस्य में रसविधान से सुवर्ण भाव की प्राप्ति होती है

वैसे ही दीक्षा विधान से मनुष्यों में द्विजत्व आ जाता है। इस प्रकार चण्डाल आदि को भी दीक्षा द्वारा द्विज बनाकर उन्हें भी मन्दिरों में ले जाकर देवदर्शनादि का अधिकार दिया जा सकता है। सो ठीक नहीं कारण कि यहाँ केवल दीक्षा की प्रशंसा की गई है जैसे-

"वत्स पिव निम्बं खण्डलड्डुकं ते दास्यामि"

ऐसा कह कर खण्डलड्डुक का प्रलोभन देकर बालक को निम्ब पिलाया जाता है वैसे ही वत्स यदि ब्राह्मणत्व लाभ चाहो तो भागवती दीक्षा से दीक्षित हो" इस वाक्य को श्रवण कर ब्राह्मणत्व की लालसा से प्राणी की दीक्षा में प्रवृत्ति होती है। इस वचन का दीक्षा से ब्राह्मणत्वलाभ सूचन में तात्पर्य नहीं है। इसी लिये दीक्षा के बाद भी-

गुरोर्लब्धस्य मन्त्रस्य प्रसादेन यथाविधि।
पञ्चाङ्गोपासनं सिद्ध्यै पुरश्चैतद्विधीयते॥
होमकर्मण्यसक्तानां विप्राणां द्विगुणो जपः।
इतरेषान्तुवर्णानां त्रिगुणादि विधीयते॥

इत्यादि से वर्णभेद की प्रतीति होती है;

दीक्षा भागवती या सा व्यक्त्युत्कर्षप्रदायिनी।
जातिस्तु जन्मतः सिद्धा मन्यन्ते शास्त्रविन्मतम्॥
स्वस्ववर्णोत्तमास्ते तु पूज्यमाना विशेषतः।

(महानिर्वाणतन्त्र)

इत्यादि वचनों से स्पष्ट सिद्ध होता है कि दीक्षा से स्व स्व वर्ण में ही उत्कर्ष प्राप्त होता है न कि जात्यन्तर प्राप्ति भी।

चैतन्य भागवत धर्म में भी दीक्षा जात्युत्कर्ष की प्रापिका नहीं है अपि तु जातिनाशिका है अतएव वर्णाश्रमोचित व्यवस्था का वहाँ आदर नहीं हैं। ब्राह्मणादि सभी का पङ्क्ति भोजनादि भी साथ ही होता है जैसा कि चैतन्य भागवत में कहा है:—"ज्ञानकाण्ड कर्मकाण्ड सकलविषये भाण्डअमृत वलिया जेवा खाए नानायोनि भ्रमण करे कदर्य भक्षण करे तार जन्म अधः पाते जाय" किन्तु भगवद्गीतादिप्रोक्त भागवत धर्म में जाति परिवर्तन नहीं होता।

सदाचार विहीनों में दीक्षानिष्फला होती है क्योंकि:—

नाद्रव्ये विहिता काचित् क्रिया फलवती भवेत्।
न व्यापारशतेनापि शुकवत्पाठ्यते वकः॥

अतः व्यक्ति स्थिति पर्यन्त सहस्रों उपायों से भी जाति नहीं बदल सकती। अन्यथा गर्दभ भी सिंह हो सके।

अतएव परम तपस्वी मतङ्ग के लिये मरण विना जाति नहीं बदल सकती ऐसा इन्द्र ने कहा था।

परम भागवत नारद भी जन्मान्तर में ही ब्राह्मण हुए थे।

जो कई उदाहरणों से शवर निषाद आदि द्वारा शिव विष्णु की मूर्ति के स्पर्शन अर्चन का अधिकार सिद्ध करना चाहते हैं। यह भी ठीक नहीं। कारण जब स्पष्ट वचनों से उनके स्पर्श का निषेध शास्त्रों में मिल रहा है तो ऐसी स्थिति में आख्यायिकाओं के बल से यह कैसे सिद्ध हो सकेगा।

ब्राह्मण्यपि हरं विष्णुं न स्पृशेच्छ्रेय इच्छती।
सनाथा मृतनाथा वा तस्य नास्त्येव निष्कृतिः॥ (कौर्म)

यदा प्रतिष्ठितं लिङ्गं मन्त्रविद्भिर्यथाविधि ।
ततः प्रभृति शूद्रश्च योषिच्चापि न संस्पृशेत् ॥ (नारदीये)
ब्राह्मणस्यैव पूज्योऽहं शुचेरप्यशुचेरपि ।
स्त्रीशूद्रकरसंस्पर्शो वज्रपाताधिको मतः ॥ (तन्त्र)

इत्यादि अनेक वचनों से निषेध स्पष्ट ही पाया जाता है।

इस तरह स्पष्ट प्रबल निषेध वचनों के रहते निर्बल प्रशंसक वाक्यों के आधार पर अन्त्यजादि का शुद्धिद्वारा जाति परिवर्तन तथा देवमन्दिरादि प्रवेश और सहभोजनादि सिद्ध करने का प्रयास करना दुःसाहसमात्र है।

आख्यायिकाओं के आधार पर जाति परिवर्तन तो कथमपि सिद्ध नहीं हो सकता। उनके आधार पर ब्राह्मणगुणयुक्त अब्राह्मण में गौण ब्राह्मण पद का प्रयोग हो सकता है। परन्तु ब्राह्मण जाति तो वही है जिसका कर्म तथा सत्वादिगुण के अनुसार दिव्य शक्ति सम्पन्न ब्रह्मा के मुख आदि अङ्गविशेष से उत्पन्न महर्षियों की सन्तति परम्परा के रजवीर्य्य से सम्बन्ध है। जैसे किसी व्यक्ति में सिंह के शौर्य क्रौर्य्य आदि गुणों के सम्बन्ध से सिंह पद का गौण प्रयोग होता है जाति सिंह तो वही है जो सिंह से सिंहिनी में उत्पन्न हुआ हो चाहे वह दुःसङ्गआदि से सिंहोचित गुण विहीन भी क्यों न हो।

जाति और गुण कर्मों के संयोग से ही ब्राह्मणता होती जहाँ ब्राह्मणोचित संस्कार सद्बुद्धि के न होने पर उपादानगतदिव्यशक्तियाँ विकसित न होकर अभिभूत रहती हैं वहाँ केवल जाति ब्राह्मणता होती है।

व्यवहार काल में जाति की ही प्रधानता होती है ब्राह्मण जाति में जन्म धारण करने से ही ब्राह्मण पूज्य होता है । कहा भी है:—

अविद्यो वा सविद्यो वा ब्राह्मणो मात्रकी तनुः—

विद्याविहीन ब्राह्मण के समक्ष विद्यादि सम्पन्न अब्राह्मण कभी पूजित नहीं हो सकता जैसे गोगुणयुक्त गर्दभी गोगुण रहित गौ के समक्ष पूजित नहीं होती । विश्वामित्र प्रभृति ने अनन्त तप से देहोपादान रजवीर्य्य आदि की शक्तियों का भी परिवर्तन किया है वह अपवाद है। जैसे नन्दी मनुष्य से ही देवता बन गये । नहुष अतिपाप से सर्प बन गये । यह जैसे सर्व साधारण के लिये असम्भव है वैसे ही जाति परिवर्तन भी सर्वसाधारण का असम्भव ही है ।

जब जाति परिवर्तन नहीं हो सकता तब जाति मूलक अस्पृश्यता भी कैसे निवृत्त हो सकती है ।

इसलिये:—

दर्शनं गेहचूडाया दर्शनं गोपुरस्य च ।
अन्त्यजानां तथान्त्यानां विज्ञेयं देवदर्शनम् ॥

इस संहिता वचन के अनुसार मन्दिर के गोपुर एवं शिखर का दर्शन ही अन्त्यजों का देवदर्शन है। शास्त्र यदि मान्य हैं तब तो अन्त्यजोंके लिये अधिकारानुसार यही पुण्य का जनक है यदि शास्त्र मान्य नहीं हैं तब तो मूर्ति में भी देवता नहीं दर्शन करने से क्या लाभ । यदि शास्त्र बल से अप्रतिष्ठित प्रतिमा की अपेक्षा प्रतिष्ठित प्रतिमा में कुछ विशेषता है तब तो अन्त्यजों की अपेक्षा ब्राह्मणों

में कुछ विशेपता अवश्य ही है और अधिकार का भी भेद सुतरां सिद्ध है।

परम कारुणिक शास्त्र सदा कल्याण मार्ग का ही उपदेश करते हैं। यदि शास्त्र अल्पश्रम से ही अन्त्यजों के लिये उस फल का अनुशासन करते हैं जोब्राह्मणों के लिये अधिक श्रम से। तव तो अन्त्यजों को उसी का अनुष्ठान करना चाहिये जिस कर्म का आदेश शास्त्र देते हैं। जैसे गङ्गा सूर्य का दर्शन करना अपनी कुल परम्परा के अनुसार कुल देवों के चौरा आदि को पूजना तथा उन्हीं को आराध्य देव समझना इसीमें परम कल्याण है।

सच बात तो यह है कि:—

"अक्के चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत्"

अर्थात् अल्पश्रम से जो कार्य हो जाय तो उसके लिये अधिक श्रम करने की क्या आवश्यकता है। यदि अछूतों को शिखर दर्शन से ही देवदर्शन का विशेपतया फल हो ही जाता है तो देवदर्शन करने की क्या जरूरत है। यदि रोग का शमन तिक्त औपधसेवन तथा सिता शर्करा दोनों से ही सम्भावित हों तो किस रोगी की प्रवृत्ति सिताशर्करा के सेवन में न होगी। इस लिये अछूतों को चाहिये कि वे हमारे है जितना प्रेम उनका हमारे में है उतना दूसरों में नहीं हो सकता। इस लिये कल्याण कामनया शास्त्र जिस सुगम सुन्दर प्रशंसित मार्ग को अवलम्बन करने का आदेश करते हैं। उन्हीं का अवलम्बन करें। इधर उधर किसी के बहकावे में या किसी प्रलोभन में पड़कर अपने आप पर कुठाराघात न करें।

स्व स्व कर्मानुष्ठान से ही सिद्धि मिलती है।

अन्य का धर्म भयावह होता है। इन बातों को ध्यान में रखते शास्त्रानुसारी मार्ग का आश्रय कल्याण चाहने वालों को करना चाहिये।

सम्प्रति विशेष कथन यह है कि जब 'महाजनो येन गतः स पन्थाः' का सिद्धान्त मान्य है, तब प्राचीनाचार्यनिर्णीत मार्ग के समाश्रयण में इतनी ननु नच या आनाकानी क्यों है? आपने कहा, 'समय को देख कर कुछ रियायत करनी चाहिये।' ठीक है, यह आपकी उदारता अवश्य प्रशस्य है। पर क्या करें, शास्त्रों पर विश्वास रखने वाले एवं तत्त्वविवेचकों का यह निश्चय है कि शास्त्र तथा शास्त्रज्ञों में विश्वकल्याण के लिये रुचि की कमी नहीं थी। उन्होंने शूद्रों का श्रवण में ही कल्याण समझा है अध्ययन में नहीं।

थोड़ा विचार कर देखने से मालूम भी यही होता है कि श्रवण ही शास्त्र रहस्यज्ञान का हेतु है। इस समय जो शास्त्रों में अविश्वास की मात्रा बढ़ रही है या बढ़ी है, इसका एक मात्र कारण आचार्य परम्पराविरहित, अधिकार के प्रश्न को मिटा कर, मनमाने शास्त्रों का वांचना है। इसी वास्ते शास्त्र का तात्पर्य न समझकर अर्थ का अनर्थ किया जा रहा है। धर्म की ओट में अधर्म की ध्वजा फहरायी जा रही है। उच्छृंखल प्रवृत्तिका राज्य संस्थापित किया जा रहा है। मोहवश चिरपरिष्कृत सुख के मार्ग पर कांटे बिछाये जा रहे हैं। महाशय यदि सचमुच शूद्रों को धर्म का ज्ञान कराना है, तब तो पाठन की अपेक्षा श्रावण ही श्रेष्ठ है, इसी वास्ते त्रैवर्णिक भी उनके पठन में स्वतंत्र अधिकारी नहीं है किन्तु आचार्य्य परम्परा

से ही उन्हें भी अध्ययन करना चाहिए। अभिप्राय यह कि जब धर्म-ज्ञान के लिये कार्य किया जाय, तब वह धर्म के विरुद्ध क्यों किया जाय ? किसी लौकिक कार्य के लिये धर्म की अवहेलना मोह वश हो जाय, परन्तु धर्म के लिये धर्म का घात क्यों किया जाय। आपने लिखा—'यह कठोर बन्धन इस समय चलना कठिन है'। इसका स्पष्ट अभिप्राय यह समझना चाहिये कि आप भी समयानुकूल धर्म परिवर्त्तन के लिये व्यग्र हैं। पर क्या करें ? शास्त्र रहस्यज्ञ शास्त्रानुकूल ही धर्म के पालन में विश्व का कल्याण देख रहे हैं, समयानुकूल धर्म परिवर्त्तन में नहीं। वैद्य, रोगी की औषधि का विधान उसके आस्वाद का अनुसरण करके नहीं करता, अपितु रोग के बलाबल का विचार करके करता है। वस्तुतः शास्त्रानुकूल कर्त्तव्य ही धर्म है। धर्म का संकोच विकाश शास्त्र के आधार पर ही होता है।

आजकल तो आपसे बहुत बड़े चढ़े लोग नवीन शास्त्र का ही निर्माण आवश्यक समझते हैं। महानुभाव ! धार्मिक व्यवस्थाओं के चलाने का भार तो उन नट नागर ने ही ग्रहण किया है जो निर्गुण निराकार होकर भी धर्मरक्षा के लिये सगुण साकार होते हैं।

शास्त्रज्ञों का तो इतना ही काम है कि वे शास्त्रीय निर्णय ठीक करें। वैसे पुराणेतिहासों की तो अब बात ही क्या है। वेद का भी अध्ययन कौन कौन जाति कैसे कर रही है। यह कौन नहीं जानता और किस धार्मिक का हृदय अपना और उनका अकल्याण समझकर शोक से द्रुत नहीं हो जाता ? पर क्या उन्हें कोई रोक सकता है। हमारा तो इतना ही कहना है कि शास्त्रों को जानने

तथा मानने वाले अधर्म को धर्म न बनावें। क्योंकि ऐसा होने से आस्तिक भी अधर्म पंक में फंस जायगें। जब तक अधर्म अपने रूप में रहता है तब तक उससे बचने वाले कुछ लोग बच सकते हैं। परन्तु जब वह धर्मरूप में ढाल दिया जाता है तब उससे बचना कठिन हो जाता है।

आजकल लोग अपनी सांसारिक तुच्छ वासना पूर्ति के लिये नाम मात्र को शास्त्र या धर्म का आश्रय लेकर कार्यक्षेत्र में अव-तीर्ण होते हैं। और अपनी प्रतिष्ठा के लिये सबकी चाटुकारिता करते हैं। ऐसे लोगों को शास्त्र या धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं होता। ऐसे ही पुरुषों से बचना और स्वधर्म पालना इस अवसर में कठिन हो रहा है।

जिन्हें शास्त्रों पर विश्वास नहीं उन्हें चाहे वेदाध्ययन का भी अधिकार दिया जाय व्यर्थ ही है। उसका भी दुरुपयोग करेंगे। जिसे विश्वास है वह इतिहास पुराणादि श्रवण से ही अपना कल्याण सम्पादन कर सकता है। अतएव भगवान् कहते हैं "अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वाऽन्येभ्य उपासते" "तेपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः"। अर्थात् जो स्वतः अध्ययन में समर्थ या अधिकारी न होने से स्वयं नहीं समझ सकते (जिनके अध्ययन का निषेध पूर्व विवेचन से सिद्ध किया गया है) वे श्रुतिपरायण (श्रुतिः श्रवणमेव परमयनं येषान्ते श्रुतिपरायणाः) श्रवण मात्र ही है अवलम्बन जिनका ऐसे लोग अन्य योग्य विद्वान् ब्राह्मण से श्रवण द्वारा जानकर मेरी उपासना से मृत्यु संसार को पार कर जाते हैं।

वस्तुतः एक स्वधर्मनिष्ठ शास्त्रविश्वासी पुराणादि श्रवण परायण भगवद्भक्तिनिष्ठ चण्डाल को जो दिव्य गति प्राप्त होती है वह एक स्वधर्म वहिर्मुख ब्राह्मण के लिये स्वप्न में भी दुर्लभ है। विश्वासी के लिये भगवन्नाम से ही अनन्त पापों का क्षय तथा अनन्त गुणों का विस्तार हो सकता है।

"कहो कहाँ लौ नाम वड़ाई।
राम न सकहिं नाम गुण गाई॥"

कितने ही पाप योनि क्यों न हों भगवदाश्रयण से कृतार्थ हो जाते हैं।

"पाई न केहि गति पतित पावन रामभजु सुनु शठ मना॥

सज्जनों को चाहिये कि शास्त्रों पर विश्वास करके स्वाधिकारानुसार ही भगवदाराधन से अपना तथा देश का कल्याण करें। अधिकार का उलङ्घन पतन का मूल है। अधिकारानुसारिणी चेष्टायें ही कल्याण के मूल हैं। इसलिये शास्त्रानुसार ही कर्त्तव्यानुष्ठान करना चाहिये।

इस विषय में विवेचन वहुत अवशिष्ट हैं कभी अवसर पाकर पुनः किया जायगा।

※ इति शुभम् ※

मुद्रक—वी. के. शास्त्री, ज्योतिष प्रकाश प्रेस, विश्वेश्वरगंज, काशी।

॥ शुद्धि–पत्र ॥

पृष्ठ	पङ्क्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३	१८	उक्ति	युक्ति
४	१९	क्यों	×
७	४	दुःखद्रि	दुःखादि
७	११	यनि	यदि
७	१५	दृष्ट	दुष्ट
९	९	श्री	×
११	९	प्रयत्न	प्राक्तन
११	१८	संस्कार	संसार
१२	३	कार्यों	कर्मों
१२	२२	विरोधात्	विशेषात्
१३	२४	द्वेपी	द्वेषी
१४	६	व्यवथित	व्यवस्थित
१५	४	तक	तव
१६	६	चेष्टा के लिये प्रतिकार	चेष्टा प्रतिकार के लिये प्रयत्न
१६	८	नियृत्त	निवृत्ति
१६	२१	करता	कर सकता
१६	२३	तिवृत्ति	निवृत्ति
१७	२४	तयः	यतः
१८	२	घोधात्	बोधात्

पृष्ठ	पङ्क्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१८	११	भिन्छति	भिद्यान्छति
२०	३	हृत	हृन
२०	१५	भिज्ञों के	भिज्ञों की
२०	२२	ज्ञनियों	ज्ञानियों
२०	२३	मिथ्यानी	मिथ्याज्ञानी
२२	६	प्रलाप जिसे	प्रलाप व्यर्थ ही हुआ जिसे स्वीकार...
२२	७	व्यर्थ ही हुआ	×
२२	१४	कि अप्रवृत्त	कि जो अप्रवृत्त
२२	१४	को ज्ञान के	×
२२	२३	घयो	घयो
२४	४	दुराचार	दुराचार
२४	७	तदन्तर	तदनन्तर
२४	८	वैराज्य	वैराग्य
२४	९	सम्पत्ति	षट् सम्पत्ति
२४	१०	मुमक्षा	मुमुक्षा
२४	२०	शनकादि	सनकादि
२५	१७	निमि के	वशिष्ट ने निमि के
२५	२१	मय	मन
२६	३	विशिष्ट पद	वशिष्ट पद
२७	१	ज्ञानीं	ज्ञानियों
२८	८	तद्भाव	तद्भाव
२८	१०	पुष्टे:	पुष्टे
२८	१२	इत्यदि	इत्यादि

पृष्ठ	पङ्क्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२८	१२	बुद्धयादि से	बुद्धयादि
२८	१९	अवश्यक	अवश्य
२८	२२	भिद्या	विद्या
२९	५	पद	पर यह
२९	१८	दशा में	होती है उस दशा में
२९	२१	कार्य	से
२९	२२	कहा	मानता है
२९	२३	असम्भावना	वह असम्भावना
३०	२	शारीरिक	शारीरक
३०	३	मक्षु	प्राप्त भक्षु
३०	५	मक्षु	भक्षु
३०	११	संभावना	असम्भावना
३०	१७	करो	मत करो
३०	२१	साक्षत्कार	साक्षात्कार
३१	५	विचार साक्षात्कार	साक्षात्कार में
३१	१०	प्रकाशा	प्रकाश याने
३२	११	विज्ञान	विज्ञात
३२	१२	जगें	गजें
३२	२१	रुचि पूर्वक	×
३२	२२	भी	भी रुचि पूर्वक
३३	२	सौन्दर्य	×
३३	३	दोप के	दोप दर्शन के
३३	३	राग	×
३३	१७	श्रद्धानश्च	श्रद्धानश्च

		अशुद्ध	शुद्ध
३५	१६	अभावा	अभाना
३७	७	प्रकृति	आदि
३८	२४	भत	भूत
४०	४	करो	करोमी
४०	२३	की	×
४०	२३	पीने	पीने की
४१	७	मधुरिमा	मधुरिमा को
४१	२०	मोहावह	मोदावह
४१	२१	धर्म	धर्म या
४१	२२	है	हैं
४२	९	शास्त्र-परिचय	शास्त्रापरिचय
४२	२१	साधन	साधर्म्य
४४	१	विपण	विपण्ण
४७	४	परकपंति	परिकर्पंति
५२	१०	का	उत्तरकर्म का
८५	२	श्रत	श्रुत
१८७	४	मात्रकी	मामकी
१८८	२२	कुयारा	कुठारा

